



॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

ईशादिपञ्चोपनिषदः

(ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डकोपनिषदां संग्रहः)

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुताः

(पाठायण संस्करण)



‘विद्यानन्दीमिताक्षरा’ व्याख्याकार एवं निर्देशक
श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर
श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज, वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर महादेव



ऋषिकेशस्थ कैलास आश्रम की सन् १८८० ई. में संस्थापना से पूर्व संस्थापक महाराज श्री स्वनामधन्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्रीविभूषित स्वामी धनराजगिरि जी महाराज मुनि की रेती बगीची में रहते थे। आप चन्द्रभागा में अवस्थित भगवान् चन्द्रेश्वर महादेव की अर्चना ब्रह्ममुहूर्त में ४ बजे प्रातः तक सम्पन्न कर लेते थे। तत्पश्चात् भ्रमणादि के अनन्तर तीनों प्रस्थानों का स्वाध्याय करवाते थे। महाराज श्री के शिवपूजन आदि कृत्य आश्रम संस्थापन के बाद भी वैसे ही चलते रहे। आपकी निष्ठा, पाण्डित्य एवं भक्ति से आशुतोष भगवान् चन्द्रेश्वर अत्यन्त प्रसन्न हुए और आप से वेदान्त श्रवण करने की लीला करने के लिए उसी प्रकार लालायित हुए जैसे मराल वेष में काकभुशुण्डि जी से रामचरितमानस सुनने के लिए हुए थे। एक रात्रि भवान् शंकर ने स्वामी जी महाराज को स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि मैं कनखल में सैठ भारामल की बगीची में गंगा तट पर पड़ा हुआ हूँ। गंगा जी की धारा मेरा बाण बहाने ही वाली हैं। अतः आप शीघ्र ही मुझे वहाँ से अपने पास ले आओ। महाराज श्री ने भगवददेश का पालन करते हुए तुरन्त कनखल जाकर उस दिव्य लिंग को प्राप्त किया और उसमें अपने उपास्य चन्द्रेश्वर महादेव की भावना करते हुए उन्हें अभिनवचन्द्रेश्वर महादेव की सुन्दर संज्ञा देकर कैलास आश्रम में माघ शु. ७ (अचला सप्तमी) वि.सं. १९५३ को संस्थापित किया। यह सब करने के बाद महाराज श्री को भगवान् की यथोचित पूजा भोगादि की चिन्ता हुई, किन्तु भगवान् ने उन्हें पुनः स्वप्न में दर्शन देकर आश्वासन दिया कि आप केवल मुझे वेदान्त सुनाते रहें, शेष सब व्यवस्था मेरी प्रेरणा एवं कृपा से स्वतः चलती रहेगी। तभी से कैलास आश्रम के सभी आचार्य भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर जी को ही मुख्य श्रोता मानकर वेदान्त का गंगाधारावत् अक्षुण्ण पाठ चलाते आ रहे हैं। फलतः आश्रम की व्यवस्था में भगवत्कृपा से किसी प्रकार की कमी नहीं आई।

अपनी इच्छा से पधारे महादेव आज भी कैलास आश्रम में उसी स्थान पर विराजमान हैं और भक्तों को मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। उनका दर्शन अमोघ है ऐसा संत महापुरुष मानते हैं। सामान्यतः देव प्रतिमाओं में सजीव देव भावना करने के लिए भक्तों को विशेष साधना रूपी बल लगाना पड़ता है। परन्तु भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर के विग्रह में उक्त लीला का स्मरण करते ही सहज में ही देवत्व सजीव हो जाता है। इस दिव्य विग्रह की महिमा से ही भारत की विश्वविख्यात विभूतियाँ स्वामी विवेकानन्द जी, स्वामी अभेदानन्द जी, स्वामी रामतीर्थ जी कैलास आश्रम में आये और वेदान्त श्रवण किये। कितने ही महापुरुषों द्वारा पूजित हुए इस दिव्य लिंग की महिमा दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रही है। विशेषतया वर्तमान दशम कैलासपीठाधीश्वर जी महाराज का दृढ़ विश्वास है कि कैलास आश्रम के ब्रह्मलीन सभी पूर्वार्चार्थ भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर में समाहित हैं। अतः इनकी दिव्यता एवं गरिमा मानस में वर्णित शिव धनुष की भांति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है।

तमकिं धरहिं धनु मूढ नृप उठइ न चलहिं लजाइ।

मनहुँ पाइ भट बाहुबल अधिक अधिक गरुआइ।।

भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर जी की शताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य में वर्तमान महामण्डलेश्वर जी महाराज ने दिव्यवर्षपंचकम् का आविष्कार किया। इसी पावन शताब्दी प्रसंग पर अतिरुद्र यज्ञ द्वारा भगवान् की अनुपम समाराधना हुई। सन् १९९७ में महाशिवरात्रि पर इन शताब्दी महोत्सवों की पूर्णाहुति करके महामण्डलेश्वर जी महाराज, सन्तों एवं भक्तों ने परम संतोष का अनुभव किया।



॥ श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

श्रीकैलासविद्यालोकस्य सप्तषष्ठितमः (६७) सोपानः

ईशादिपञ्चोपनिषदः

(ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डकोपनिषदां संग्रहः)

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुताः

(पाठायण संस्करण)



'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श

आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



सम्पादक

स्वर्ण लाल तुली

बी. इ., डी. डी. इ. (न्यूजीलैण्ड)

प्रकाशक

दूरभाष :

श्री कैलास विद्या प्रकाशन

०१३५-४३०५९८

कैलास गेट, हृषीकेश (ऊ प्र०)

प्रसंग : देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव

सौजन्य : बत्रा परिवार नई दिल्ली

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित

प्रथम आवृत्ति २००० वि० सम्वत् २०५६ सन् १९९९

मूल्य : २०० रुपये

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान —

१. श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१
२. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१
३. श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३
४. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१
५. श्री कैलास विद्यातीर्थ, (आदि शंकराचार्य स्मारक) ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
६. श्री कैलास आश्रम, मॉडल टाऊन, रोहतक - १२४००१
७. श्री कैलास विद्यातीर्थ, गिरियक रोड, राजगीर (नालन्दा)-८०३११६
८. श्री कैलास विद्याधाम, रूप नगर, जम्मू तवी
९. श्री शंकर ब्रह्मविद्याकुटीर, ८३ - ए, द्वारका पुरी, मुजफ्फर नगर-२५१००१

मुद्रक :— नाथ प्रिंटर्ज, जोशी रोड, करोल बाग, नई दिल्ली - ११०००५, दूरभाष - ३५५५५८९, ३६१९१७०

लेज़र कम्पोज़िंग : - आकृति प्रिन्टोग्राफिक्स, जनक पुरी, नई दिल्ली - ११००५२ ♦ दूरभाष : ५५२३००६

॥ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यो विजयतेतराम् ॥

सम्पादकीय

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

जगद्गुरु भगवान् आद्यशङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव आठवीं शताब्दी (सन् ७८८ ई.) में हुआ था। उस समय भारत में वैदिक सनातन धर्म पर कई प्रकार से कुठाराघात हो रहा था। वैदिक सिद्धान्तों का मनमाना अर्थ लगाकर तथाकथित विद्वान् जनता को भ्रमित कर रहे थे। 'यदा यदा हि धर्मस्य' वाली प्रतिज्ञा के अनुसार तब भगवान् का इस धरा पर अवतरित होना अनिवार्य हो गया था। दैवी शक्तियों ने इसके लिये भगवान् आशुतोष शङ्कर का आह्वान किया और वे ही शङ्कराचार्य के रूप में भारत भूमि पर अवतरित हुए। जैसे सूर्य के उदय होने पर धुंध मिट जाती है ऐसे ही शङ्कराचार्य के वचनों, उपदेशों, विचारों एवं सिद्धान्तों की लौ में धर्म, शास्त्र एवं परमार्थ से विमुख हुये लोगों के मोह, संशय भ्रमादि समाप्त हो गये। इस युग में शंकराचार्य के समान तेजस्वी आचार्य, विचारक और शास्त्र-रचयिता न कोई अन्य हुआ है और न आगे होगा। अपने २०० से भी अधिक शास्त्र रचनाओं की धरोहर वह मानव समाज के लिये छोड़ गये हैं जिसके आलोक में सहज में ही मानव अपने कल्याण का सम्पादन कर सकता है।

संस्कृत एवं धर्म प्रचार के लिये आद्यशंकराचार्य ने भारत के चारों दिशाओं में जो चार मठ बनाये, वे काफी समय तक उनके उद्देश्यों की पूर्ति करते रहे; पर बाद में उनमें शिथिलता आ गई। विशेष कर उत्तराम्नाय में तो कई वर्षों से आचार्य पद को सुशोभित करने वाला महापुरुष ही सामने नहीं आया। अतः वह पीठ बिना गुरु के इसी प्रकार डगमगा गई जैसे कर्णधार के बिना नौका। भगवत्कृपा से इसकी पूर्ति के लिये स्वनामधन्य महामण्डलेश्वर स्वामी धनराजगिरि जी महाराज ने सन् १८८० में ऋषिकेश गंगातटीय पावन भूमि पर कैलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ की संस्थापना की। यहाँ वेदान्त के ग्रन्थों का पठन पाठन भगवान् शंकराचार्य द्वारा रचित भाष्यों सहित अक्षुण्ण रूप से होने लगा। विशेष कर वर्तमान दशम कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज (महाराज श्री) के सन् १९६९ में इस पीठ पर विराजने के पश्चात् वहाँ की स्वाध्याय शैली में निखार आया। इसकी खास वजह यह है कि महाराज श्री ब्रह्मविद्या के अनन्य उपासक हैं और भगवान् शंकराचार्य की रचनाओं से उन्हें अत्यधिक स्नेह है। शङ्करभाष्यों को जनमानस में उतारने के लिये उन्होंने उपनिषदों भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र भाष्यों की हिन्दी व्याख्या लिखी और प्रकाशित भी करवाई। उपनिषदों पर इस व्याख्या की 'विद्यानन्दी भाष्यार्थदीपिका' और गीता और ब्रह्मसूत्र पर इस व्याख्या की ललिता व्याख्या के नाम से प्रसिद्धि है। भगवान् शंकराचार्य ने जैसी ओजस्वी शैली से धर्म प्रचारादि कार्य किया था वैसी शैली से ही महाराज श्री, श्रीशङ्कराचार्य और उनके ग्रन्थों का प्रचार कर रहे हैं। इस विषय में आप एक अद्वितीय दिव्य विभूति हैं।

आजकल महाराज श्री शंकराचार्य भाष्यों के पारायण पर बहुत बल दे रहे हैं। शङ्करभाष्यों के विधिवत् दैनिक पारायण के प्रथम प्रवर्तकाचार्य होने का श्रेय आप को मिला है। आप स्वयं

एक घण्टा प्रतिदिन उपनिषद्, भगवद्गीता ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यों का क्रमबद्ध पारायण करते हैं। यह नियम आपने देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव के प्रारम्भ में लिया जो महोत्सव आपके पीठासीन होने के तीस वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में १-७-१९९८ से मनाया जा रहा है। यद्यपि यह महोत्सव ७-१०-१९९९ को सम्पन्न हो जायेगा परन्तु महाराज श्री का शाङ्करभाष्य पारायण का नियम आजीवन चलेगा ऐसा उन्होंने संकेत दिया है। महाराज श्री शांकरभाष्यों को दिव्य रचनाएँ मानते हैं। उनके पारायण से आपको उतना ही आनन्द और संतोष मिलता है जितना श्रुतिमन्त्रों एवं गीता श्लोकों के पारायण से।

कई लोगों के मन में प्रश्न उठता है कि महाराज श्री को और जिन अन्य विद्वानों को संस्कृत भाषा का ज्ञान है उनको तो शाङ्करभाष्य पारायण में रस मिलता है, पर साधारण व्यक्ति जो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ है उसे इससे क्या लाभ? इसके उत्तर में यह निवेदन करना है कि आज भी संस्कृत न जानने वाले लाखों ऐसे भक्त हैं जो श्रीमद्भगवद्गीता, वेदमन्त्रों और दुर्गासप्तशती आदि ग्रन्थों का पारायण करते हैं और उससे प्रचुर लाभ उठाते हैं। दूसरे हम यह मानते हैं कि सुसंस्कृत शब्द में उसका अर्थ निहित होता है। उस शब्द की उपासना से अर्थ की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। यदि कोई श्रद्धा भक्ति सहित शाङ्करभाष्यों का दैनिक पारायण करता है तो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होते हुये भी कुछ ही साधना के पश्चात् उसको अर्थ का प्रकाश होने लगता है। नाम साधना भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है। नाम और नामी में अभेद वाली बात प्रसिद्ध ही है। अतएव महाराज श्री के उपदेशानुसार हमें शाङ्करभाष्यों के पारायण का नियम अवश्य लेना चाहिए।

महाराज श्री ने सुविचारपूर्वक यह निर्णय लिया कि जब हम शाङ्करभाष्यों के पारायण का प्रचार कर रहे हैं तो उसके अनुरूप हमें ग्रन्थ भी उपलब्ध करवाने चाहिये। तदनुसार पारायणोपयोगी ग्रन्थ छपवाने का महाराज श्री ने निर्णय लिया और इसमें सर्वप्रथम 'माण्डूक्यादित्रयोपनिषदः' (पारायण संस्करण) का लोकार्पण १९-७-९९ को हुआ। इसके पश्चात् प्रस्तुत 'ईशादिपञ्चोपनिषदः' (पारायण संस्करण) भी भगवत्कृपा से लोकार्पण होने के लिये तैयार हो गया है। इसके बाद यथा समय छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों का भी पारायण संस्करण तैयार हो जायेगा। फिर भगवद्गीता ब्रह्मसूत्र भी इसी तरह छपवाने की संभावना है।

पारायण संस्करण में मूल मन्त्रों की महाराज जी द्वारा की गई संक्षेप हिन्दी व्याख्या (विद्यानन्दीमिताक्षरा) दे दी गई है ताकि संस्कृत से अनभिज्ञ पारायणानुरक्त साधक उसका भाव समझने में सक्षम हो। शाङ्करभाष्य को तो ज्यू का त्यू मूलमन्त्र और हिन्दीमिताक्षरा के नीचे दे दिया है। टाईप का साईज भी आम पुस्तकों से बड़ा रखा गया है ताकि सभी को पारायण में सुविधा हो।

हमारी समझ से देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव की सबसे बड़ी देन शाङ्करभाष्य पारायण का श्रीगणेश है। यह एक ऐसा साधन है जिस के बल पर आज के समाज में अतिशीघ्र पारमार्थिक लाभ जीव को मिल सकता है। इस के साथ भगवान् जगद्गुरु आदि शंकराचार्य और अस्मादाचार्य पर्यन्त गुरुओं के असंख्य उपकारों के ऋण का हम कुछ व्याज चुकाने का प्रयास भी कर सकेंगे। हरि ॐ तत्सत्

श्रीगणेश चतुर्थी (भाद्रपद शु. ४) वि. सं. २०५६

गुरुपादानुरागी

स्वर्ग लाल तुली

'विद्यासदन' दिल्ली

१ — ईशावास्योपनिषद्

प्रकरण प्रकाशिका

| क्रम | मन्त्र | पृ० |
|--|--------|-------|
| १. शान्ति मन्त्र | — | १ |
| २. सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि | १ | २ |
| ३. अज्ञानी की निन्दा | ३ | ३ |
| ४. अभेद आत्मदर्शी की स्थिति | ६ | ३ |
| ५. आत्मा का लक्षण | ८ | ७ |
| ६. कर्म उपासना समुच्चय | ९ | ७-८ |
| ७. स्वतन्त्र कर्म और उपासना का फल | १० | ९ |
| ८. कर्म उपासना समुच्चय का फल | ११ | ९ |
| ९. व्यक्त और अव्यक्त उपासना का समुच्चय | १२ | १० |
| १०. स्वतन्त्र व्यक्त और अव्यक्त उपासना का फल | १३ | १० |
| ११. व्यक्त अव्यक्त समुच्चय उपासना का फल | १४ | ११ |
| १२. उपासक की मार्ग याचना | १५ | ११ |
| १३. मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना | १६ | १२-१३ |
| १४. आह्निकम् (दैनिक पारायण विराम) | १६ | १४ |

Ref. मुण्डक. Page 10. वैराग्य शुभयोगिच्छा प्रथमा प्रोच्यते बुद्धेः १
 शास्त्रसंज्ञनसंपर्कवैराग्याश्चास्य पूर्वकं । सद्दिचारपञ्चविधा प्रोच्यते सा विचारणा ॥ २
 विचारणा शुभेच्छाश्चाभिन्निर्गम्यते स्वसत्ता । यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते सा तनुमानसा ॥ ३
 भूमिकाजितयाश्चासाक्षितेऽर्धे विरते वैशात् । सच्चात्मनि स्थितः शुद्धे सच्चापि रुदोद्धा ॥ ४
 देशान्तुष्टयाश्चासादे संसर्गकला च सा । रुद्धसच्चयमत्कारा प्रेक्षाऽसंयति नामिका ॥ ५
 भूमिकापञ्चकाश्चासाद्व्यात्म्याराम तथा भृशम् । आश्चन्तराणां वा ह्युक्तं पदा यीनाम् -
 अधासनात् ॥ परप्रयुक्तेन विरप्रयुक्तेनैव बोधनम् । पदार्थभासीनी नाम षष्ठी भक्ति भूमिका ॥ ६
 भूमिषट्क विराश्चासादे दस्यानुलम्बनात् । चत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा श्रेया तुर्यगा ॥ ७
 स्थितिः

अत्र भूमिकाजितये ब्रह्मविद्यायाः साधनमेव न तु विद्याकोट्यवन्तर्भवति । भूमिकाजये
 भेदसत्यत्वं बुद्धेरनिवर्तितत्वात् । अत एवैतन्नागरणमिदं व्यपदिश्यते ॥ ब्रह्मात्मैकसाक्षात्का-
 रचतुर्थी भूमिका फलरूप सच्चापि निर्गम्यते (स्वप्नः) पञ्चमादयस्तिष्ठे सुमयो जीवन्मुक्तेरवान्तर-
 भेदः ॥ प्रथमो पार्श्वस्थो बोधितो व्युत्तिष्ठते । पञ्चमे योगी ब्रह्मविद्वरः ॥ १६० ब्रह्मविद्वरीयान्

२—केनोपनिषत्

पदभाष्य-वाक्यभाष्य क्रम

| क्रम | पृ० |
|----------------------------|-----|
| १. शान्ति मन्त्र | १ |
| २. प्रथम खण्ड पदभाष्य | २ |
| ३. प्रथम खण्ड वाक्यभाष्य | १० |
| ४. १-आह्निकम् | १६ |
| ५. द्वितीय खण्ड पदभाष्य | १७ |
| ६. द्वितीय खण्ड वाक्यभाष्य | २३ |
| ७. २-आह्निकम् | २६ |
| ८. तृतीय खण्ड पदभाष्य | २७ |
| ९. तृतीय खण्ड वाक्यभाष्य | ३२ |
| १०. चतुर्थ खण्ड पदभाष्य | ३८ |
| ११. चतुर्थ खण्ड वाक्यभाष्य | ४४ |
| १२. ३-आह्निकम् | ४६ |

विसंवादाभावस्तृतीयं प्रयोजनम् ॥

विसंवादो द्विविधः, कलहरूपो, निन्दारूपश्च ।

॥ ४ ॥ दुःखनाश सुखाभिधिरूपे चतुर्थं यज्ञमप्रयोजने निरूपिते ।
उभयं अत्र सक्षिप्प्योच्यते

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः

किमिच्छन्कस्य कायाय शरीरमनु संज्वरेत् ॥ बृ-५-५-१२

तच्च ज्ञानं पूर्वमेवोत्पन्नमपि - जीवन्मुक्तौ सुरक्षितं भवति ।

शरीरमनुसंज्वरेत् = शंशेत् = शरीरोपाधिदुःखमनुदुःखी स्यात्
शरीरतापमनु तप्येत ।

३—काठकोपनिषत्

वल्ली सूची

| क्रम | पृ० |
|-----------------------|-----|
| १. शान्ति मन्त्र | १ |
| प्रथम अध्याय | |
| २. प्रथमवल्ली | २ |
| ३. द्वितीय वल्ली | १७ |
| ४. १-आह्निकम् | २४ |
| ५. तृतीय वल्ली | ३० |
| द्वितीय अध्याय | |
| ६. प्रथम वल्ली | ३९ |
| ७. २-आह्निकम् | ४६ |
| ८. द्वितीय वल्ली | ४७ |
| ९. तृतीय वल्ली | ५६ |
| १०. ३-आह्निकम् | ६६ |

चतुर्थी - स्वप्नः - ब्रह्मविद्

पञ्चमी - सुषुप्ति - ब्रह्मविद्भरः

षष्ठी - जाह्नसुषुप्ति - ब्रह्मविद्भरीयार - पार्श्वस्थैर्बोधितो व्युत्तिष्ठते

सप्तमी - ब्रह्मविद्भरिष्ठः - स्वतः परतो वा व्युत्थितो भवति

५, ६, ७. भूषिग्रह रूपानां जीवनमुक्तौ संपद्यमानां द्वैतप्रतिभासाभावेन

संशयविपर्यय प्रसङ्गाभावाद् व्युत्पन्नं तत्त्वज्ञानम बाधने रक्षितं भवति

ज्ञान रक्षा जीव-मुक्तैः प्रथमं प्रयोजनम्

तथा द्वितीयं प्रयोजनम् (पञ्चमादिभूमिनाग्रस्य तपस्त्वं तपसा प्राप्तं जन्मान्तर नास्ति तथाऽपि लोकसंग्राहकैः युक्तिक न्याय विच्छेदः)

लोकसंग्राहक विविधः २ शिल्पो अन्तःस्वरस्थश्चेति

① उपदिष्टे तच्चे परमं विम्वसं प्राप्तं चितं शिल्पस्य सदृशा विस्मयति "मस्य देवः

② भक्तः - अन्नप्रदाननिवासस्थानकल्पनादिना भोगिनं सेवमानो भक्तस्तीक्ष्णतपः स्वयमेवाऽऽदत्ते

२४. "तस्य राजा दासमयप्रान्ति स द्रष्टः आर्धकल्पं द्विपन्नः पादकल्पमात्रे

* परोक्षज्ञानसे = कूटस्थ नहीं है इस अवस्था, कूटस्थ है इस परोक्षज्ञानसे नमूद है
अपरोक्षज्ञानसे = कूटस्थ भावना नहीं यह अवस्था, न कूटस्थ है इस अपरोक्षज्ञानसे नमूद है

४—प्रश्नोपनिषत्

प्रश्न क्रम

| क्रम | पृ० |
|-------------------|-----|
| १. शान्ति मन्त्र | १ |
| २. प्रथम प्रश्न | ९ |
| ३. द्वितीय प्रश्न | १० |
| ४. तृतीय प्रश्न | १६ |
| ५. १-आह्निकम् | २१ |
| ६. चतुर्थ प्रश्न | २२ |
| ७. पञ्चम प्रश्न | ३१ |
| ८. षष्ठ प्रश्न | ३६ |
| ९. २-आह्निकम् | ४६ |

चिदाभास का सात अवस्थापे: पञ्चदशी ॥ तृचिदीपप्रकरण

- अज्ञान:- न जानामी बुद्धासीन व्यवहारस्य कारणम्
विचारप्राग्भावेन मुक्तमज्ञानमीरितम् ॥ ३५ ॥
- आवरण:- अमागेनि विचारार्थं नास्ति नो भावे चेत्यसौ। केवलं तं के सौ, कूटस्थ
व्यवहार विपरीतव्यवहारवृत्तेः कार्यं सिध्यते ॥ ३६ ॥
- विक्षेप:- देह द्वयचिदाभास रूपो विक्षेप इरितः। स्थूल, सूक्ष्म शरीर सिद्धि सिद्धि
चिदाभासकाकार्यं कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराश्चोदस्य बन्धकः ॥ ३७ ॥
- परोक्षधी:- परोक्षज्ञानतो नश्येदसच्चवृत्ति हेतुता
शोक
- अपरोक्षज्ञान:- अपरोक्षज्ञान नाश्या द्वि अभावा वृत्ति हेतुता ॥ ४५ ॥
- शोक निवृत्ति:- अभावावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात्।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराश्चो निवर्तते ॥ ४६ ॥
- निरङ्कुश वृत्ति:- निवृत्ते सर्वसंसारे निव्यमुक्तत्वभासनात्।
निरङ्कुशा भवेत्तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भावात् ॥ ४७ ॥

५—मुण्डकोपनिषत्

मुण्डक विभाग

| क्रम | पृ० |
|-----------------------|-----|
| १. शान्ति पाठ | १ |
| प्रथम मुण्डक | |
| २. प्रथम खण्ड | २ |
| ३. द्वितीय खण्ड | ८ |
| द्वितीय मुण्डक | |
| ४. प्रथम खण्ड | १६ |
| ५. १-आह्निकम् | २१ |
| ६. द्वितीय खण्ड | २२ |
| तृतीय मुण्डक | |
| ७. प्रथम खण्ड | २९ |
| ८. द्वितीय खण्ड | ३६ |
| ९. २-आह्निकम् | |

३ तदस्थोऽपि द्विविधः, आस्तिको नास्तिकश्चेति । तत्राऽस्तिको योगिनः सन्मार्गाचरणं दृष्ट्वा स्वयमपि सन्मार्गे प्रवर्तते । तथा च स्मर्यते "यद्यादाचरति श्रेष्ठस्ततः - - - - -" नास्तिकोऽपि योगिना दृष्टः पापान्मुच्यते । तदुक्तम् - परमानुभवपर्यन्ता तच्चे बुद्धिः प्रवर्तते । सर्वं तद् दृष्टिजोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः ॥ इति ॥ सर्वं पुण्यकारिणं योगिनो विवक्षितं पश्यते - स्नातं तेन अमस्ततीर्थमलितं सर्वोऽपि दत्ताऽवनि-पञ्चानां च सहस्रमिष्टमस्त्रिता देवाश्च संपूजिताः ।

संसारश्च समुद्धृताः स्नातं तत्तत्स्नानं कथं पुण्योऽप्यसौ नश्ये ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥ कृतं पवित्रं जननी कृतार्थं विष्णुभरा पुण्यवती च तेन ।

शुद्धि, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या ऐसे ६ प्रमाण हैं! जिनसे कर्मयोग का बोध होना है!

उपनिषद् → ४ - ३९ - ६ - ३६ - ४ मार्ग पाचन
विद्या विद्या व्यक्त अविक्त ॐ पदार्थज्ञानेन महावाक्यैः वाक्प्रदान-
स-दानं - जीवब्रह्मणो रेकवस्मानुसन्धानम्
श्रवणम्

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमाध्यन्दिनीशाखानुसार-

मीशावास्योपनिषन्मन्त्राणां पाठः ।

वेदान्तानामहो वाक्यामादिमं ध्यावसानतः ब्रह्मनात्म-मेव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ तात्पर्यम् = उपक्रमोपसंहरादिभिर्निर्दिष्टम् ॥ धीः निश्चयः

पक्रम ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

पवित्र ॐ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतथं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । तथंस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

इनेजदेकं मनसो जवीयो नैन्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् । अपूर्वता ॐ

तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तददूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरथं शुद्धमपापविद्धम् । समिदानानर्भग्रहणं ज्ञानं कर्म वस्तु
कारण सहितं गता ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्वयदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याथंरताः ॥९॥

अन्यदेवाऽऽहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयथं सह । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाथंरताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयथं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तथं शरीरम् । ॐ क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतथं स्मर ॥१५॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥१७॥

ॐ खं ब्रह्म ॥१८॥

ॐ पूर्णमित्यादिशान्तिः ॥३॥

इति शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीशाखान्तर्गता ईशावास्योपनिषद् । (शु. य. सं. अ. ४०) ।

वेद भागः - कर्म - इच्छा - ज्ञान, ७३२
 मुख्य सामानाधिकरण = जीव के साथ ब्रह्म का.
 वाक्षाभा " " ब्रह्म के साथ जगत का.
 उपनिषद् - ब्रह्मविद्या - किताब में जैसा प्रयोग. वृ. आपूर्व दृष्टम्.
 प्रः प्रपञ्च; न = नहीं; वः, मुख्यतः, तुम में प्रपञ्च नहीं है।
 ॐ

"अवनेर्मेन दितोपञ्च"
 अव. म. अव के स्थान में ऊँ
 ॐ म. जुग ओम्

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादो विजयतेतराम्

ईशावास्योपनिषद्

शुक्ल उपनिषद्
 काण्व शास्त्रान्तर्गत
 आरम्भ वादः न्याय, वैशेषिक.
 परिणाम = सांख्य.
 विवर्त = वेदान्ती.

अग्निवेदी व. अजानिती के द्वि में अदस * वद * रोषु.
 विवेकीयो के द्विरे भी परोक्ष है इदं एतद् अपरोक्ष.

भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

देश, काल, वस्तु
 परिच्छेद शुभलं अग्निदानं
 पूर्णत्व.

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
 पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

विवर्त वाद कटे-
 कर आरम्भ उत्तर
 परिणाम वाद का
 खण्डन.

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

पूर्णस्य षट्पूर्ण स्वरूपं तन्मात्रमादाय उपाध्वंशमपद्यामहे तच्च ज्ञानी परमते!
 मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

ॐ वह (निरुपाधिक परब्रह्म) पूर्ण है, और यह (सोपाधिक कार्यब्रह्म भी) पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण आविर्भूत हुआ। (तथा तत्त्व साक्षात्कार के समय एवं प्रलय काल में) पूर्ण (सोपाधिक कार्यब्रह्म) के पूर्णत्व को लेकर (अर्थात् अपेन में लीन करके) पूर्ण (निरुपाधिक परब्रह्म) ही शेष बचा रहता है। त्रिविध ताप की शान्ति होवे।

परमार्थ इष्टि से अगद को आच्छेदन
 अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं भाष्यम्
 ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तेषामकर्मशेषस्याऽऽत्मनो याथात्म्य-

प्रकाशकत्वात्। याथात्म्यं चाऽऽत्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि
 वक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः। नह्येवंलक्षणमात्मनो
 याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्। वा
 सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपिणेनैवोपक्षयात्। गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात्। चरितार्थ
 तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं
 कर्माणि विहितानि। अनवगतार्थवबोधकम् शास्त्रम्.

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न
 काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति
 ह्यधिकारविदो वदन्ति। तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनाऽऽत्मविषयं
 स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः। शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञान-
 मुत्पादयन्ति। इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान् संक्षेपतो व्याख्यास्यामः ॥

प्रयोग समयवेतार्थ स्मारको अञ्जः वृ. कर्षुरगौर, आरति में
 * जीवात्मा का स्वरूप यहाँ जो बतवाया वह कर्म में निमित्त प्रयोग नहीं

(4) निधम (बन्ध) अपुने विधि = दशपुण्यसाधनाम् अर्चनानामो यजेत. ॐ
निधम विधि = श्री दीन अवदन्ति.
परिसंख्या = पञ्चा पञ्च परवा भद्रा..

२ वृ. 3. मितक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
गाम करण मे हेतु ^{मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता} सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि का उपदेश

उपक्रम ॥ हरिः ॐ । ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥
कर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

जगत् में (अर्थात् तीनों लोकों में) जो कुछ जड़ चेतन संसार है, वह सब ईश (पद लक्ष्य निरुपाधिक परब्रह्म) से आच्छादनीय है (इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि से मिथ्या नाम-रूपात्मक जगत् का त्याग हो जाता है) उसी त्यागभाव से तू आत्मा का पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर। (जब ब्रह्मदृष्टि से सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् का बाध हो गया, तो भला!) किसका धन है (जिसकी आकांक्षा करें?) ॥१॥

इस (कर्माधिकारी मानव) लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने

ईशा वास्यमित्यादि । ईशा ईष्टे इतीदं तेनेशा । ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य ।

स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तुनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया, तेन स्वेन रूपेणाऽऽत्मनेशा वास्यमाच्छा-
दनीयम् । किम् । इदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनाऽऽत्मनेशेन प्रत्यगात्म- 7+2 लोक

तयाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना ।

यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिर्घर्षणे-

नाऽऽच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन, तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्यां जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव

नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात् । एवमीश्वरात्मभावनया

युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासे एवाधिकारो, न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि

त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वाऽऽत्मसंबन्धिताया अभावादात्मानं पालयत्यत-

स्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः । भुञ्जीथाः पालयेथाः । एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः, गृधिमाकाङ्क्षां

मा कार्षीर्धनविषयाम् । कस्यस्विद्धनं कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः ।

स्विदित्यनर्थको निपातः । अथवा मा गृधः । कस्मात्? कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न

कस्यचिद्धनमस्ति यद्गृध्येत । आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन एवेदं

सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधि मा कार्षीरित्यर्थः ॥१॥

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनाऽऽत्मज्ञाननिष्ठतयाऽऽत्मा रक्षितव्य

इत्येष वेदार्थः । अथेतरस्यानात्मज्ञतयाऽऽत्मग्रहणायाशक्त्येदमुपदिशति मन्त्रः — कर्वन्नेवेति ।

भगवत् २ जगत् का भद्र एवं आकर्षण जो है वह आच्छादन से दृष्ट जलपेगा-
परसाधना

④ मन्त्र लिङ्गादि तपोः विचार्यकारिणं प्रतीयते. "अर्थ प्रकाशन सामर्थ्यः लिङ्गः

1, 2 & मन्त्र का व्याख्या सम्पूर्ण गीता ईशावास्योपनिषद्

3

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥ विहित कर्म

अज्ञानियों की निन्दा
अध्याय ६

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।

ताथंस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥३॥

① विरक्त के लिये आत्मदर्शन ② सरक्त के लिये विहित कर्म ③ अतिरिक्त के लिये असुर की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्वाभिमान रखने वाले तुझ में शास्त्र-निषिद्ध कर्म लिप्त नहीं हो सकता। इससे भिन्न पाप कर्मों से अलिप्त रहने को कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥२॥

(10) दोनो मार्गों से व्युत्पन्न व्यक्त (अद्वितीय परमात्म भाव की अपेक्षा देवादि भी असुर हैं, फिर असुरों की तो बात ही क्या?) वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं। आत्मज्ञान शून्य जो कोई भी आत्मघाती हैं, वे मरने के अनन्तर उन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं ॥३॥

कुर्वन्नेवेह निर्वर्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि । जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् । तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते । एवमेवंप्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनीत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते, कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः । अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत् । कथं पुनरिदमवगम्यते ? पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता, द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति । उच्यते; ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ? इहाप्युक्तं 'यो हि जिजीविषेत्स कर्म कुर्वन्' 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनमि'ति च । 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदम्; ततो न पुनरियादि'ति संन्यासशासनात् । उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति । इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्चोत्तरेण निवृत्तिमार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः । तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति । "न्यास एवात्यरेचयत्" (तै० ना० ७८) इति च तैत्तिरीयके । "द्वाविमावथ पन्थानौ अत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः" (म० भा० शान्ति० २४१-६) इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता । विभागं चानयोर्दर्शयिष्यामः ॥२॥

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषां च स्वभूता लोकाः असुर्या नाम । नामशब्दोऽनर्थको निपातः । ते लोकाः

देवाः = इन्द्रादयो देवाः कुतस्त्वमप्यन्तः? सान्धानात् = प्रकरणान्
 वे = धातो रिनार लोपेन कमिन् - आहवात्म प्रकरणः; देवाः अदिदैविक प्रकरण नदी
 मातर्भू चिन् - प्रत्ययान्त - अभ्यासमयि (४)
 मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

राम स्व रूप वर्णन
 अत्रास

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनदेवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्। अपूर्ववत्।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥ ३५५ वि०

(वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से) विचलित न होने वाला, सभी भूतों में एक तथा मन से भी तीव्र गति वाला है। इस आत्मतत्त्व को चक्षुरादि इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त कर सकीं? क्योंकि यह उन सबसे आगे गया हुआ प्रतीत होता है। वह स्थिर होता हुआ भी अन्य दौड़ने वाले (गतिशीलों) को अतिक्रमण कर जाता है। उसकी विद्यमानता में ही अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाला वायु (समस्त प्राणियों के प्रवृत्तिरूप) कर्मों का विभाग करता है॥४॥

कर्मफलानि लोच्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि। अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन
तमसाऽऽवृता आच्छादितास्तान्स्थावरान्तान्प्रेत्य त्वक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म
यथाश्रुतम् (कठ० ३/२/७)। ये के चाऽऽत्महनः। आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः?
येऽविद्वांसः। कथं त आत्मानं नित्यं हिंसन्ति? अविद्यादोषेण विद्यमानस्याऽऽत्मनस्तिर-
स्करणात्। विद्यमानस्याऽऽत्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्येव
तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति
ते॥३॥

यस्याऽऽत्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति तद्विपर्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्ते तेनाऽऽत्म-
 हनः तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते - अनेजदिति। अनेजत् न एजत्। एज् कम्पने। कम्पनं
चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः। तच्चैकं सर्वभूतेषु। मनसः
संकल्पादिलक्षणाज्जवीयो जववत्तरम्। कथं विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय
इति च। नैष दोषः। निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोपपत्तेः। तत्र निरुपाधिकेन स्वेनरूपेणोच्यतेऽनेजदे-
कमिति। मनसोऽन्तःकरणस्य संकल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्तनादिह देहस्थस्य
मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं संकल्पेन क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्।
तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोकादीन्दुतं गच्छति सति प्रथमप्राप्त इवाऽऽत्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो
जवीय इत्याह। नैनदेवा द्योतनादेवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं नाऽऽप्नुवन्न
प्राप्तवन्तः। तेभ्यो मनो जवीयो मनोव्यापारव्यवहितत्वात्। आभासमात्रमप्यात्मनो नैव देवानां
विषयीभवति। यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत्पूर्वमेव गतम्। व्योमवदव्यापित्वात्।
सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव

आत्मस्वरूपवर्णन

ईशावास्योपनिषद्
Story नाभि. म. ट. मा.

५

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । अज्ञानि दौडने रहते हैं ।

अज्ञान

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

वह आत्मतत्त्व (सोपाधिक रूप से) चलता है (और निरुपाधिक रूप से) वह नहीं भी चलता है। वह (अत्यन्त) दूर में है और वही निकट में भी है, किंबहुना इस वर्तमान सम्पूर्ण संसार के भीतर वह है तथा इसके बाहर भी वही है ॥५॥

सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवती वाविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासते इत्येतदाह-तद्भावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रियप्रभृती-
नत्येत्यतीत्य गच्छतीव । इवार्थं स्वयमेव दर्शयति—तिष्ठदिति । स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः ।
तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वाः मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति
मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत्क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि
प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितुं स मातरिश्वा । अपः कर्माणि प्राणिनां
चेष्टालक्षणानि । अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि
दधाति विभजतीत्यर्थः । धारयतीति वा । 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' (तै० २/८) इत्यादि-
श्रुतिभ्यः । सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव
भवन्तीत्यर्थः ॥४॥

न मन्त्राणां जामिताऽस्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह - तदेजतीति । तदात्मतत्त्वं
यत्प्रकृतं, तदेजति चलति, तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेत्यर्थः ।
किंच तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाददूरे इव । तत् उ अन्तिके इति च्छेदः ।
तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च । तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य ।
"य आत्मा सर्वान्तर" (बृ० २/४/१) इति श्रुतेः । अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य
तदु अपि सर्वस्यास्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाशवन्निरतिशय सूक्ष्मत्वादन्तः । "प्रज्ञानघन एव"
(बृ० ४/५/१५) इति च शासनान्निरन्तरं च ॥५॥

६ शोकादिः अविवक्षा कारणं मूलविद्या ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञानं.
मूलविद्या. मुक्ति में उच्चतम अम आदि।

उभे दृष्टी की स्थिति.

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
आत्म दर्शन का पूरा क्रम 6 च मन्त्र.

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। कल्पित रूपसे.
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

॥ काले यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

प्रम ६ अज्ञान तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

जो (परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और सम्पूर्ण भूतों में भी अपने आत्मा को ही देखता है, वह इस (सर्वात्मदर्शन) के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

जिस काल में अथवा जिस आत्मा में (परमार्थतत्त्व के दर्शन हो जाने से) तत्त्वदर्शी के लिए सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो गये, उस समय या उस आत्मा में एकत्व देखने वाले को, क्या शोक और क्या मोह हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। (ये तो आत्मा को न जानने वाले को ही हुआ करते हैं) ॥ ७ ॥

यस्तु। यः परिव्राट्मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तान्यात्मन्येवानुपश्य-
त्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः। सर्वभूतेषु च तेष्वेव चाऽऽत्मानं, तेषामपि भूतानां
स्वमात्मानमात्मत्वेन यथाऽस्य देहस्य कार्यकरणसंघातस्याऽऽत्माऽहं सर्वप्रत्ययसाक्षि-
भूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवाऽऽत्मेति
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां
घृणां न करोति। प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम्। सर्वा हि घृणाऽऽत्मनोऽन्यददुष्टं पश्यतो
भवत्यात्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तर पश्यतो न घृणानिमित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव। ततो
न विजुगुप्सते इति ॥ ६ ॥

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह — यस्मिन्सर्वाणि भूतानि। यस्मिन्काले यथोक्तात्मनि
वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूदात्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु
विजानतस्तत्र तस्मिन्काले तत्राऽऽत्मनि वा को मोहः कः शोकः। शोकश्च मोहश्च
कामकर्मबीजमजानतो भवति, न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः। 'को मोहः कः
शोक' इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासम्भवप्रदर्शनात्सकारणस्य संसार-
स्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥ ७ ॥

अन्धः तमः इत्यादौ तु समुच्चिपया अविद्यादिनिन्दा दृश्यते ॥

निन्दा प्रसंसे द्वि वेदे (वेदरूपी) विद्वत्सा कुमार्याः निन्दा प्रसंसे परिचारिके भवतः
desire "to do or perform."

ईशावास्योपनिषद्

9

आत्म निरूपण - उपसंहार ॥

सूक्ष्म

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपाप-

विद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूयाथातथ्य-

तोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः

समाभ्यः ॥८॥

कर्म और उपासना के समुच्चय विधान के लिये एक-एक के पृथक् अनुष्ठान की निन्दा.

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । कर्म-स्वयं प्राप्ति

वह पूर्वोक्त आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापक शुद्ध, सूक्ष्म शरीर से रहित, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, धर्माधर्मादिपापवर्जित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, ईश्वर, सर्वश्रेष्ठ और स्वयंभू (स्वयं होने वाला) है। उस नित्यमुक्त सर्वज्ञ ईश्वर ने नित्य सिद्ध सम्बत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से (यथाभूत कर्मफल और साधनों के अनुसार) अर्थों (कर्तव्यों या पदार्थों) का विभाग किया है ॥८॥ अवयव निष्फल तो अवप्रवी भी निष्फल -

जो अविद्या (केवल अग्निहोत्रादि कर्म) की उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूप घोर

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किलक्षण इत्याहायं मन्त्रः — स पर्यगात्स यथोक्त आत्मा पर्यगात्परि समन्तादगादगतवानाकाशवद्व्यापीत्यर्थः । शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मदीप्तिमानित्यर्थः । अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः । अव्रणमक्षतम् । अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम् । अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूल-शरीरप्रतिषेधः । शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः । अपापविद्धं धर्मा-धर्मादिपापवर्जितम् । शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिङ्गत्वेन परिणयानि स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुंलिङ्गत्वेनोपसंहारात् । कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक् । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३/७/२३) इत्यादिश्रुतेः । मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः । परिभूः सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः । स्वयंभूः स्वयमेव भवतीति येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः । स नित्यमुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथा भावो याथातथ्यं तस्माद्यथाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान्कर्तव्यपदार्थान्व्यदधाद्विहितवान्यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः । शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥८॥

अत्राऽऽद्येन मन्त्रेण सर्वेषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः । ईशावास्यमिदं सर्वं मा गृधः कस्य स्विद्धनमिति । अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठाऽसम्भवे कुर्वन्नेवेह .

देवता ज्ञाने
देवता उपासना
प्रत्ययवाच्य भोजी,

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाथ रताः ॥९॥

अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो केवल विद्या (देव उपासना) में ही रत हैं, वे मानों उससे भी अधिकतर घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ॥९॥

कर्माणि जिजीविषेदिति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः। अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ० १/४/१७) इत्यादिना अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति, 'मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जाया' (बृ० १/४/१७) इत्यादिवचनात्, अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते। तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनाऽऽत्मस्वरूपावस्थानं जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन चाऽऽत्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनाऽऽत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" (बृ० ४/४/२२) इत्यादिना। ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्या नाम त इत्यादिनाऽविद्वन्निन्दाद्वारेणाऽऽत्मनो याथात्म्यं स पर्यगादित्येतदनैर्मन्त्रैरुपदिष्टम्। ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति। तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टमित्यादि विभज्योक्तम्। ये तु कर्मिणः कर्म निष्ठाः कर्म कुर्वन्तः एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते -

अन्धतम इत्यादि। कथं पुनरेवमवगम्यते न तु सर्वेषामित्युच्यते - अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन "यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति यदात्मैकत्वविज्ञानं तत्र केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति। इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते। यद्वैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं, तत्कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्। 'विद्यया देवलोकः' (बृ० १/५/१३) इति पृथक्फलश्रवणात्। तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैवैकैकस्य पृथक्फलश्रवणात्। विद्यया तदारोहन्ति। विद्यया देवलोकः। 'न तत्र दक्षिणा यन्ति' (शत० १०/५/४/१६) 'कर्मणा पितृलोकः' (बृ० १/५/१६) इति। नहि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात्। तत्राथं तमोऽदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति। के? येऽविद्यां विद्याया अन्याऽविद्या तां कर्मेत्यर्थः। कर्मणो विद्याविरोधित्वात्। तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति। के? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञाने एव रता अभिरताः तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह। अन्यथा फलवदफलवतोः संनिहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यादित्यर्थः ॥९॥

✓ विद्या अन्यथा घटादि में भा है। कर्म को ही क्या लना - विद्या ध्यान, अज्ञान का दान
 तद् सादृश्यमभावश्च तदन्तर्गतं अप्राशस्त्यं विरोधाच्च नमर्थः पद-
 तदन्तर्गतं निन्दा. प्रकीर्तिना.

अन्य = दो विद्यायों में १) हमेशा उन्नत रहने की इच्छा से कर्म और २) हमेशा उन्नत रहने की इच्छा से कर्म और उपासना का प्रयत्न।
 समुच्चय विधान की इच्छा से कर्म और उपासना का प्रयत्न।
 इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥१०॥
 ① कर्म और उपासना का समुच्चय.

उपासना विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
 शास्त्र विहित कर्म अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्याममृतमश्नुते ॥११॥
 तत्र प्रत्येकं विहितं विहितत्वेन व्यापारोपयोग्येति।

विद्या (देवोपासना) से (देवलोक की प्राप्तिरूप) अन्य ही फल बतलाते हैं तथा अविद्या (अग्नि होत्रादि कर्म) से (पितृलोक की प्राप्तिरूप) अन्य फल कहते हैं। ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उन (फल के सहित ज्ञान और कर्म) की व्याख्या की थी ॥१०॥ ① केवल कर्म केवल उपासना के समुच्चय ② कर्म के साथ उपासना।
 जो कोई विद्या और अविद्या इन दोनों को एक साथ ही एक ही पुरुष से अनुष्ठेय जानता है (और वैसे ही अनुष्ठान करता है वह कर्म रूप) अविद्या से (स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप) मृत्यु को पार कर विद्या से (देवात्म भाव रूप आपेक्षिक) अमृतत्व को प्राप्त करता है ॥११॥ कर्म और उपासना का समुच्चय, काल भेद, व्याप्ति भेद का समुच्चय का एक काल में एक व्यक्ति तीनों का समुच्चय नहीं कर सकता है। अद्वयमस्य अनुष्ठान।

अन्यदेवेत्यादि। अन्यतृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति। "विद्यया देवलोकः" 'विद्यया तदारोहन्ति' इति श्रुतेः। अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते 'कर्मणा पितृलोकः' (बृ० १/५/१६) इति श्रुतेः। इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं विचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥१०॥

यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः। यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेणानुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एवैकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते- अविद्यया कर्मणाऽग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वाऽतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति। तद्व्यमृतमुच्यते यदेवतात्मगमनम् ॥११॥

अर्वाचीन = अर्वाचीन अस्ति = पश्चाद्, नूतन, निकट १) मोक्षादिवीचीन फलनापि

श्रुत प्रतीवन्धक = checking of the fellow became a befellow naturally.
 वर्तमान प्रतिबन्धक = बुद्धिमान्-धन / पृथक् पृथक् व्यक्त और अव्यक्त उपासना की निन्दा
 भावि प्रतीवन्धक = अदभुत मितक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
 दशमस्कन्धराणीह निष्पत्तीन्द्रियचिन्तकोः, आत्मिकास्तु शतं, पूर्ण सहस्रं ब्रह्ममणिः

71 चतुर्थे
 संबिधान रचयिता

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते । कारण, अव्याकृत माया.

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याध्वरताः ॥१२॥ कार्य ब्रह्म.

व्यक्त और अव्यक्त की पृथक् उपासना का फल

अणिमादि

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । प्रकृतिलय . ६

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

जो असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति काम-कर्म की बीजभूत अविद्या) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धे में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (हिरण्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म) में रत हैं, वे मानो उनसे भी अधिकतर अन्धे में प्रवेश करते हैं ॥१२॥

कार्यब्रह्म की उपासना से अन्य ही (अणिमादि ऐश्वर्यरूप) फल बतलाते हैं तथा अव्यक्त की उपासना से (प्रकृतिलय रूप) अन्य ही फल बतलाते हैं, ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस (फल के सहित व्यक्त और अव्यक्त उपासना) की व्याख्या की थी ॥१३॥

✓ अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिं सम्भवनं संभूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिस्तस्या अन्याऽसम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्याऽव्याकृताख्या तामसंभूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति । ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति ये उ संभूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥१२॥

२/ अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह—अन्यदेवेति । अन्यदेव पृथगेवाऽऽहुः फलं सम्भवात्सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः । तथा चान्यदाहुरसम्भवादसम्भूतेरव्याकृतादव्याकृतोपासनाद्यदुक्तम् "अन्धं तमः प्रविशन्ती" ति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥१३॥

बौद्धा दससहस्राणि लिखन्ति विगतज्वरः। पूर्णं शतसहस्रं तु लिखन्ति अल्पतोयिनः।
पुरुषं निर्गुणं प्राप्त काल संख्या न विद्यते। इति। अजाव्यक्तं प्रकृतिस्तद्विद्यन्त
कास्त्वत्रैव लीलाः सन्तः पूर्णं शतसहस्रं सन्वन्तराणि लिखन्ति। वायुपुराण २
ईशावास्योपनिषद् गोग शृङ्ग भाष्ये २

व्यक्त और अव्यक्त उपासना का समुच्चय.

कारण ससम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।

कामादि दोष
अनैश्वर्य.

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥ प्रकृतिलयः कुम्भक

देहाभिमान, व्यष्टि
अभिमान

उपासक की मार्ग प्राप्तिना. want to sleep 6 months and wake for one day
हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥ परमात्मा.

जो असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति) और कार्यब्रह्म, इन दोनों को साथ-साथ (एक पुरुष से अनुष्ठेय) जानता है, वह कार्य ब्रह्म की उपासना से (अनैश्वर्य, अधर्म कामादि दोष रूप) मृत्यु को पारकर असम्भूति के द्वारा (प्रकृतिलय रूप) अमरत्व को प्राप्त करता है ॥१४॥

आवरण प्रधान (अज्ञान) आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्म का द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि-समष्टि अहङ्काररूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। अतः हे पूषन्! मुझ सत्यधर्मा जिज्ञासु को उस सत्यात्मा की उपलब्धि कराने के लिये तू उस आवरण को हटा ले ॥१५॥
वाल्मीकी का मारा - तारा अश्वी - देहाभिमान जो शरीर का चैतन्य अहम्मा के लिये शेरही.

यत एवमतः समुच्चयः सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोर्युक्त एवैकपुरुषार्थत्वाच्चेत्याह—
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह। विनाशेन विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणाऽभेदेनोच्यते विनाश इति। तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्। तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्यासंभूत्याऽव्याकृतोपासनयाऽमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते। “सम्भूतिं च विनाशं च” इत्यत्रावरणलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः। प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात् ॥१४॥

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम्। एतावती संसारगतिः। अतः परं पूर्वोक्तं ‘आत्मैवाभूद्विजानतः’ इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम्। एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः। तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम्। निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तं, तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वज्जिजीविषेद्यो विद्यया सहापरब्रह्मविषयया तदुक्तं ‘विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते’ इति। तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इत्युच्यते— “तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः” (बृ० ५/५/२) एतदुभयं सत्यं

श्रद्धा नोक्त में जाने वाला। (७) योग का द्वा - पुरस्कार रूप से।
(८) वेदान्त में जीवा डाता साधन करने वाला को दण्ड रूप से।

१२

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुक्त

मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना (३) सर्व नमोस्तु त्वोक्त प्रवक्तव्यः स्मर्यः
तच्छा-मायकाशी पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह। प्रजापति का लाडले।
तेजो यत्ते कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

मेरा प्राण.

वायुरनिलममृतमथेदं

भस्मान्तं शरीरम्।

हे जगत् पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करने वाले! हे यम! हे (प्राण और रस का पोषण करने वाले) सूर्य! हे प्रजापति के लाडले! तू अपने किरणों को हटा ले। जिससे कि तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देख सकूँ, यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ ॥ १६ ॥

अब मेरा प्राण (आध्यात्मिक वायु आधिदैविक वायुरूप) सूत्रात्मा को प्राप्त हो, और ये शरीर भस्मान्त हो जावे। हे मेरे संकल्प-विकल्पात्मक मन! अब तू मेरे स्मरणीय का स्मरण

ब्रह्मोपासीनो यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते हिरण्मयेन पात्रेण। हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत्। तेन पात्रेणैवापिधान-भूतेन सत्यस्यैवाऽऽदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितमाच्छादितं मुखं द्वारं, तत्त्वं हे पूषन्नपा-वृण्वपसारय सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात्सत्यं धर्मो यस्य, मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यमथवा यथा भूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये ॥ १५ ॥

पूषन्निति। हे पूषन्! जगतः पोषणात्पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः। हे एकर्षे! तथा सर्वस्य संयमनाद्यमः। हे यम! तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वीकरणात्सूर्यः। हे सूर्य! प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः। हे प्राजापत्य! व्यूह विगमय रश्मीन्स्वान् समूह, एकी कुरु, उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः। यत्ते तव रूपं कल्याणतममत्यन्तशोभनं तत्ते तवाऽऽत्मनः प्रसादात्पश्यामि। किंचाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वाऽनेन प्राण बुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः, पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि ॥ १६ ॥

वायुरिति। अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः। लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृत-

१ अग्ने नयेति = अग्नि = परमात्मा प्रौढिनाथे = (प्रकृति + प्रलय) बडा नेता.

ईशावास्योपनिषद्

१३

ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥१७॥

१ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । ज्ञान-कर्म.

अलग करो.

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इति वाजसनेयसंहितोपनिषत्सम्पूर्णा

॥ॐ तत्सत्॥

कर, मेरे किये हुए का स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए का स्मरण कर (क्योंकि स्मरण का समय उपस्थित हो गया है) ॥१७॥

हे अग्नि! हमें अपने कर्मफल भोग के लिये सन्मार्ग से ले चलो, हे देव! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान और कर्म को जानने वाला है। अतः हमारे कुटिल कर्मों को हमसे पृथक् कर दो (अर्थात् नष्ट कर दो)। हम (मुमूर्षु सम्प्रति) तेरे लिये अनेकों नमस्कार मात्र से परिचर्या करते हैं ॥१८॥

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् की
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि कृत मिताक्षराहिन्दीव्याख्या सम्पूर्ण हुई।

मुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम्। मार्गयाचनसामर्थ्यात्। अथेदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात्। ओमिति यथोपासनमोंप्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्यकमन्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे क्रतो! सङ्कल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मरैतावन्तं कालं भावितं कृतमग्ने स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥१७॥

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते — अग्ने नयेति। हे अग्ने! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय

आक्षेपकारणं स्यात् ॥ अतएव गृह्यते ॥
 स्वस्वरूपानु संधानम् अक्षिरेत्पक्षिपते by Shankar.
 हेतवादी अहं अपरोक्षानुभव का कारण इति हृष्ट संस्कार एवं कुसंगती,
 मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
 अहं हेतवादी स्वस्वरूप ज्ञान, निष्पन्न हृष्ट है। इति ज्ञान अहं है।

कर्मफलभोगायेत्यर्थः। अस्मान्यथोक्तधर्मफलविशिष्टान्विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि
 कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वज्ज्ञानम्। किं च युयोधि वियोजय विनाशयास्मदस्मत्तो जुहुराणं
 कुटिलं वज्जनात्मकमेनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु
 वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुंभूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं
 विधेम नमस्कारेण परिचरेमेत्यर्थः। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"। "विनाशेन
 मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते" इति श्रुत्वा केचित्संशयं कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं
 संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः। तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इत्युच्यते। विद्याशब्देन मुख्या
 परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वं च। ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च
 विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः। सत्यम्। विरोधस्तु नावगम्यते विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात्।
 यथाऽविद्यानुष्ठानं विद्योपसानं च शास्त्रप्रमाणकं, तथा तद्विरोधाविरोधावपि। यथा च 'न
 हिंस्यात्सर्वा भूतानी' ति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यते; 'अध्वरे पशुं हिंस्यादि'ति।
 एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात्। विद्याकर्मणोश्च समुच्चयो, न; 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या
 या च विद्येति ज्ञाता' (क० १/२/४) इति श्रुतेः। विद्यां चाविद्यां चेतिवचनादविरोध इति
 चेन्न। हेतुस्वरूपफलविरोधात्। विद्याविद्याविरोधाविरोधयोर्विकल्पासम्भवात्समुच्चय-
 विधानादविरोध एवेति चेन्न। सहसम्भवानुपपत्तेः। क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति चेन्न।
 विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति
 विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाऽऽश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया
 उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा। "यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विज्ञानतः। तत्र को मोहः कः
 शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति शोकमोहाद्यसम्भवश्रुतेः। अविद्याऽसम्भवात्तदुपादानस्य
 कर्मणोऽप्यनुपपत्तिमवोचाम। "अमृतमश्नुते" इत्यापेक्षिकममृतं विद्याशब्देन परमात्म-
 विद्याग्रहणे हिरण्यमेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात्तस्मादुपासनया समुच्चयो न
 परमात्मविज्ञानेनेति यथाऽस्माभिव्याख्यात एवं मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते ॥१८॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीशङ्करभगवतः कृतौ वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम् ॥

॥ इहविद्या = ब्रह्माकारवृत्ति मउ ॥ ॐ तत्सत् ॥

३. इन्द्रनाशुट बहि से पाक. ॥ आह्निकम् ॥

से ही ब्रह्माकारवृत्ति में आरुट

ब्रह्माचार्य अज्ञान मष्ट करेगा।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय = शंकराचार्य का अपना शास्त्र।

① पैथमी ② ज्योमयी ③ तलवकार ④ राणाभणी सप्तवेद का ५ शाखाये।
"तनु विन वेद भजन नहीं करना"

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

केनोपनिषत्

भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

(सामवेदीयतलवकारोपनिषत्)

प्रेषास्यात् लोकात् अमृता भवति

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो

बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं जगत्

माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरो-

दनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि

निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि

सन्तु।

ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

① अहं ब्रह्म निराकरोना के अनुकूल सभी इन्द्रिया हो जाएं। लोक हित में आप के सारे
मिताक्षराहिन्दोव्याख्या व्यापार हो तो आपके अङ्ग पुष्ट हैं!

भावः— वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य एवं वक्ता और श्रोता) दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों का अधीत (ज्ञान) तेजस्वी हो और हम (कभी भी परस्पर) द्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

मेरे अंग पुष्ट हों, मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट, (ब्रह्म बोध के योग्य) हों। वह सब (दृश्यमान् जगत्) उपनिषद्वेद्य ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे (अर्थात् मैं ब्रह्म को सदा आत्मभावेन साक्षात् करूँ, उससे कभी भी विमुख न होऊँ और इसके लिए सर्वान्तर्यामी परमात्मा मुझे बल दे, वह मेरा त्याग न करे)। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो। उपनिषदों में जो धर्म हैं, वे आत्मबोध में लगे हुए मुझ साधक में हों, वे सब मुझ में हों। त्रिविध ताप की शान्ति होवे।

श्रुत्यर्थसंग्राहकवाक्यैः ① कर्माङ्गुपासना, ② केवल्य सन्निकृष्ट उपासना, ③ अहंभूत-
विस्तरेण उपदिष्टानाम् सूत्र-भाष्ययोः निबन्धो यः समासेन संग्रहम् विदुर्बुधाः

अथ प्रथमः खण्डः

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं पदभाष्यम्।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

केनेषितमित्याद्योपनिषत्परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याध्यायास्याऽऽरम्भः। प्रागेतस्मात्कर्माण्यशेषतः परिसमापितानि समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपासना-
न्युक्तानि कर्माङ्गसामविषयाणि च। अनन्तरं च गायत्रिसामविषयं दर्शनं वंशान्तमुक्तं
कार्यं सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं ① ② ③
भवति। ④ सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मृतानि च कर्माणि दक्षिण-
मार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति ⑤ स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्चादि-
स्थावरान्ताऽधोगतिः स्यात्। "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावतीनि
भूतानि भवन्ति। जायस्व प्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्।" (छा. ५/१०/८) इति श्रुतेः। "प्रजा ह
तिस्त्रोअत्यायमीयुः" इति च मन्त्रवर्णाद्विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्यैव बाह्यादनित्यात्साध्यसाधन-
संबन्धादिह कृतात्पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषोद्धवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा
प्रवर्तते। तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षणया श्रुत्या प्रदर्श्यते केनेषितमित्याद्यया। काठके
चोक्तम्— "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः
प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" इत्यादि। "परीक्ष्य लोकान्कर्मचिदान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।" "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं
ब्रह्मनिष्ठम्" इत्याद्याथर्वणे च। एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मनुं
विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते, नान्यथा। एतस्माच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानात्संसारबीजमज्ञानं
कामकर्मप्रवृत्तिकारणमशेषतो निवर्तते। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति
मन्त्रवर्णात्। "तरति शोकमात्मवित्" इति,

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु. २/२/८)

इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत्सिध्यतीति चेन्न। वाजसनेयके
तस्यान्यकारणत्ववचनात्। "जाया मे स्यात्" इति प्रस्तुत्य "पुत्रेणायं लोको जय्यो
नान्येन कर्मणा। कर्मणापितृलोको विद्यया देवलोकोः" इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य कारणत्वमुक्तं
वाजसनेयके। तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने हेतुरुक्तः— "किं प्रजया करिष्यामो येषां
नोऽयमात्माऽयं लोकः" इति। तत्रायं हेत्वर्थः— प्रजाकर्मतत्संयुक्तविद्याभिर्भननुष्यपितृ-
देवलोकत्रयसाधनैरनात्मलोकप्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामो, न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं

प्रेरक के विषय में प्रश्न.

केनोपनिषत् प्रथमः खण्डः

३

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः
प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

यह मन किससे प्रेरित हुआ (अपने) अभीष्ट विषयों के प्रति जाता है? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम (मुख्य) प्राण चलता है, (सभी प्राणी) किसके द्वारा प्रेरित हो इस अभीष्ट वाणी को बोलते हैं और कौन देव चक्षु एवं श्रोत्र को प्रेरित करता है? ॥१॥

साधनसाध्यमिष्टं येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्नित्यश्च लोक इष्टः। स च नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेणान्यसाधन- निष्पाद्यस्तस्मात्प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वेषणासंन्यासः एव कर्तव्य इति। कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य। न ह्युपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वमुपपद्यते। वस्तुप्राधान्ये सत्यपुरुषतन्त्रत्वादब्रह्मविज्ञानस्य। तस्माददृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य, प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मविज्ञासेयं, केनेषितमित्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते। शिष्याचार्यप्रश्नप्रतिवचन- रूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात्सुखप्रतिपत्तिकारणं भवति। केवलतर्कागम्यत्वं च क० १.११.११ दर्शितं भवति। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इति श्रुतेश्च। "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "आचार्याद्भैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इति। "तद्विद्धि प्रणिपातेन" इत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाच्च। जीता ४-३४
change पेश। / कश्चिद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणमपश्यन्नभयं नित्यं शिवमचलमिच्छन्प्रच्छेति कल्प्यते। केनेषितमित्यादि। केनेषितमिति केन कर्त्रेणित- मिष्टमभिप्रेतंसन्मनः पतति गच्छति स्वविषयं प्रतीति संबध्यते। इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासंभवादच्छार्थस्यैवैतदूपमिति गम्यते। इषितमितीदृशप्रयोगस्तु च्छान्दसस्तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत्। तत्र प्रेषितमित्येवोक्ते प्रेषयितृप्रेषणविशेषविषया- काङ्क्षास्यात्। केन प्रेषयितृविशेषेण। कीदृशं वा प्रेषणमिति। इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्तते। कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणाद्यद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात्केनेषितमित्येतावतैव सिद्धत्वात्प्रेषितमिति न वक्तव्यम्। अपि च शब्दाधि- क्यादर्थ्याधिक्यं युक्तमितीच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमित्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः। न, प्रश्नसामर्थ्याद्। देहादिसंघातादनित्यात्कर्मकार्याद्विरक्तोऽतोऽन्यत्कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुपपद्यते। इतरथेच्छावाक्कर्मभिर्देहादिसंघातस्य

उपक्रमः

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन यद्वाचो ह वाचं स उ
प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः। अतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

जो श्रोत्रका श्रोत्र, मन का मन और वाणी की वाणी है, वही प्राण का प्राण तथा चक्षु का चक्षु है, (अर्थात् श्रोत्रादि में श्रवण आदि का सामर्थ्य जिससे है उसे जानकर) धीर पुरुष इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं ॥२॥

प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात्। एवमपि प्रेषितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव। न। संशयवतोऽयं प्रश्ने इति प्रेषितशब्दस्यार्थविशेष उपपद्यते। किं यथाप्रसिद्धमेव कार्यकरणसंघातस्य प्रेषयितृत्वं किं वा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्येच्छामात्रेणैव मनआदिप्रेषयितृत्वमित्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति विशेषण-
द्वयमुपपद्यते। ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पततीति प्रसिद्धम्। तत्र कथं प्रश्न उपपद्यत इति उच्यते। यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयं स्यात्तर्हि सर्वस्यानिष्टचिन्तनं न स्यादनर्थं च जानन्संकल्पयति। अत्युग्रदुःखे च कार्ये वार्यमाणमपि प्रवर्तते एव मनस्तस्माद्युक्त एव केनेषितमित्यादि प्रश्नः। केन प्राणो युक्तो नियुक्तः प्रेरितः सन्नैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति। प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्तत्पूर्वकत्वा-
त्सर्वेन्द्रियवृत्तीनाम्। केनेषितां वाचमिमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः। तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवो द्योतनवान्युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति ॥१॥

एवं पृष्ठवते योग्यायाऽऽह गुरुः शृणु त्वं यत्पृच्छसि। मनआदिकरणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयतीति। श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्रमिन्द्रियं तस्य श्रोत्रं स यस्त्वया पृष्ठश्चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्तीति। असावेवंविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्ते इति वक्तव्ये नन्वेतदनुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति। नैषः दोषः। तस्यान्यथाविशेषा-
नवगमात्। यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादि-
नियोक्ताऽवगम्येत दात्रादिप्रयोक्तृवत्तदेदमनुरूपं प्रतिवचनं स्यात्। न त्विह श्रोत्रा-
दीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवदधिगम्यते। श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेणाऽऽलोचनसंकल्पाध्यवसायलक्षणेन फलावसानलिङ्गेनावगम्यते। अस्ति हि
श्रोत्रादिभिरसंहतो यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापो गृहादिवदिति संहतानां परार्थत्वा-

दवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता। तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि।
कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः? न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः, यथा
प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण। नैष दोषोऽयमत्र पदार्थः—श्रोत्रं तावत्स्वविषयव्यञ्जन-
समर्थं दृष्टम्। तच्च स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि
नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति नासतीत्यतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते। तथा च
श्रुत्यन्तराणि—“आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते” “तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” “येन सूर्यस्तपति
तेजसेद्धः” इत्यादीनि।

“यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।” ✓

“क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत” इत्यादि गीतासु। ✓

काठके च—“नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्” इति। श्रोत्राद्येव सर्वस्याऽऽत्मभूतं
चेतनमिति प्रसिद्धं तदिह निवर्त्यते। अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्त-
रतमं कूटस्थमजरममृतमभयमजं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यनिमित्तमिति, प्रतिवचनं
शब्दार्थशोपपद्यत एव। तथा मनसोऽन्तःकरणस्य मनः। न ह्यन्तःकरणमन्तरेण
चैतन्यज्योतिषा दीपितं स्वविषयसंकल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात्। तस्मान्मनसोऽपि
मन इति। इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति। यद्वाचो ह वाचं
यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः संबध्यते। यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रम्। यस्मान्मनसो
मन इत्येवम्। वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते। प्राणस्य
प्राण इति दर्शनात्। वाचो ह वाचमित्येतदनुरोधेन प्राणस्य प्राणमिति कस्माद्वितीयैव
न क्रियते। न। बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वाद्वाचमित्यस्य वागित्येतावद्वक्तव्यं स उ प्राणस्य
प्राण इति शब्दद्वयानुरोधेन। एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात्। पृष्ठं च वस्तु
प्रथमयैव निर्देष्टुं युक्तम्। स यस्त्वया पृष्ठः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणस्तत्कृतं
हि प्राणस्य प्राणसामर्थ्यम्। न ह्यात्मनाऽनधिष्ठितस्य प्राणनमुपपद्यते। “को
ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्” “ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यग-
स्यति” इत्यादिश्रुतिभ्यः। इहापि च वक्ष्यते— “येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं
विद्धि” इति। श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे घ्राणप्राणस्य ननु युक्तं ग्रहणम्। सत्यमेवं प्राणग्रहणेनैव
तु घ्राणप्राणस्य ग्रहणं कृतम्। एवं मन्यते श्रुतिः। सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता
प्रवृत्तिस्तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः। तथा चक्षुषश्चक्षू रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो
यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैत्याधिष्ठितस्यैवातश्चक्षुषश्चक्षुः। पृष्ठः पृष्ठस्यार्थस्य
ज्ञातुमिष्टत्वाच्छ्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म ज्ञात्वेत्यध्याहियते। अमृता भवन्तीति

आत्मा का दुर्लभत्व तथा दुर्निश्चयता

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्ययुता

अपूर्वता ३

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो
न विद्मो^१ न विजानीमो^२ यथैतदनुशिष्यादन्यदेव
तद्विदितादर्थो^३ अविदितादधि^४। इति शुश्रुम पूर्वेषां
ये नस्तद् व्याचक्षिरे ॥३॥ अस्मात्तन्मयं तर्क प्रतिषेधार्थम्।

वहाँ (सर्वप्रेरक सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में) नेत्र इन्द्रियाँ नहीं जाती और मन (भी) नहीं जाता। अतः जैसे शिष्य को इस (निरुपाधिक ब्रह्म) का उपेक्ष करना चाहिये, उसे हम नहीं जानते, (और सामान्य या विशेष रूप से भी) हम उसे नहीं समझते। वह विदित वस्तु से अन्य ही^३ है तथा अविदित (अज्ञान) से भी परे है, ऐसा हमने पूर्व पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस (निरुपाधिक चैतन्य ब्रह्म) का व्याख्यान किया था ॥३॥

फलश्रुतेश्च। ज्ञानाद्धमृतत्वं प्राप्यते। "ज्ञात्वाऽतिमुच्य" इति सामर्थ्याच्छ्रोत्रादिकरण-
कलापमुज्झित्वा। श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा तदुपाधिः संस्तदात्मना जायते म्रियते संसरति
च। अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्माऽऽत्मेति विदित्वाऽतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं
परित्यज्य ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति, ते धीरा धीमन्तः। न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण
✓ श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्। प्रेत्य व्यावृत्त्यास्माल्लोकात्पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु
ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात्त्यक्तसर्वेषणो भूत्वेत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो भवन्ति। "न
कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागनैके अमृतत्वमानशुः" "पराञ्चि खानि व्यतृणत्"
"आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्यादिश्रुतिभ्यः।
अथवाऽतिमुच्येत्यनेनैवैषणात्यागस्य सिद्धत्वादस्माल्लोकात्प्रेत्यास्माच्छरीरात्प्रेत्य
मृत्वेत्यर्थः ॥३॥ २५/११/२५

यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्मातो न तत्र तस्मिन्ब्रह्माणि चक्षुर्गच्छति। स्वात्मनि
गमनासंभवात्। तथा न वाग्गच्छति। वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति
यदा, तदाऽभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीत्युच्यते। तस्य च शब्दस्य तन्निर्वर्तकस्य च करणस्याऽऽत्मा
ब्रह्मातो न वाग्गच्छति। यथाऽग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन्न ह्यात्मानं प्रकाशयति दहति
च तद्वत्। नो मनो मनश्चान्यस्य संकल्पयित्रध्यवसायितुं च सदात्मानं न संकल्पयत्यध्वस्यति
✓ च तस्यापि ब्रह्माऽऽत्मेतीन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं तदगोचरत्वान्न विद्वान्तदब्रह्मेदृश-
मित्यतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेणैतद्ब्रह्मानुशिष्यादुपदिशेच्छिष्यायेत्यभिप्रायः। यद्धि

केनोपनिषत् प्रथमः खण्डः
ब्रह्म वागादि से परे उपासी अनुपासी है! (५-६)

9

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं
विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

जो (चैतन्य मात्र सत्ता स्वरूप ब्रह्म) वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥४॥

करणगोचरं तदन्यस्मा उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रियाविशेषणैः । न तज्जात्यादि-
विशेषणवद्ब्रह्म । तस्माद्विषमं शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति । उपदेशे तदर्थग्रहणे च
यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति—न विद्म इत्यादि । अत्यन्तमेवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते
तदपवादोऽयमुच्यते । सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः । आगमेन
तु शक्यत एवं प्रत्याययितुम् । तदुपदेशार्थमागममाह—“अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति ।
अन्यदेव पृथगेव तद्यत्प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीत्युक्तं मविषयं च तेषाम्, तद्विदितादन्यदेव
हि विदितं नाम यद्विदिक्रिययाऽतिशयेनाऽऽप्तं तद्विदिक्रियाकर्मभूतं क्वचित्कि-
चित्कस्यचिद्विदितं स्यादिति सर्वमेव व्याकृतं तद्विदितमेव तत्तस्मादन्यदित्यर्थः । अविदितमज्ञातं
तर्हीति प्राप्ते आह—अथो अविदिताद्विदितविपरीतादव्याकृतादविद्यालक्षणादव्याकृतबीजात् ।
अधीत्युपर्यर्थे लक्षणयाऽन्यदित्यर्थः । यद्धि यस्मादध्युपरि भवति तत्तस्मादन्यदिति प्रसिद्धं
यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम् । तस्माद्विदितादन्यद्ब्रह्मेत्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं स्यात् ।
तथाऽविदितादधीत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात् । कार्यार्थं हि कारणमन्यदन्येनोपादीयतेऽतश्च
न वेदितुरन्यस्मै प्रयोजनायान्यदुपादेयं भवतीत्येवं विदिताविदिताभ्यामन्यदिति हेयोपादेय-
प्रतिषेधेन स्वात्मनोऽन्यब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य निवर्तिता स्यात् । न ह्यन्यस्य स्वात्मनो
विदिताविदिताभ्यामन्यत्वं वस्तुनः संभवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः । “अयमात्मा ब्रह्म”
“य आत्माऽपहतपाप्मा” । “यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म” । “य आत्मा सर्वान्तरः” इत्यादिश्रुत्यन्तरे-
भ्यश्चेत्येवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपादकस्य
वाक्यस्याऽऽचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह—इति शुश्रुमेत्यादि । ब्रह्म चैवमाचार्योपदेश-
परम्परयैवाधिगन्तव्यं न तर्कतः प्रवचनमेधाबहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्चेत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं
पूर्वेषामाचार्याणां वचनम् । ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तद्ब्रह्म व्याचक्षिरे व्याख्यातवन्तो
विस्पष्टं कथितवन्तस्तेषामित्यर्थः ॥३॥

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यनेन वाक्येनाऽऽत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते
श्रोतुराशङ्का जाता तत्कथं त्वात्मा ब्रह्म । आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च

वाक्यस्फोट, वाक्यगतजातिस्फोट, ५५ स्फोट, ५६ गतजातिस्फोट,
 वाक्यस्फोट, वाक्यगतजातिस्फोट, सखण्ड, अखण्डवाक्यस्फोट.
 (४) स्फुट्यते व्यञ्जते वर्णैरिति स्फोटः

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्ययुता

यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।

अध्यासः

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

जिसे (कोई) मन से मनन नहीं करता है किन्तु जिससे मन भी मनन किया जाता है— ऐसा कहते हैं, उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिस इस (देश-काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥५॥

संसारि कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान्स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति तत्तस्मादन्य
 उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रश्च प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति न त्वात्मा। लोकप्रत्यय-
 विरोधात्। यथाऽन्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मेत्याचक्षते, तथा कर्मिणः "अमुं यजामुं
 यज" इत्यन्या एव देवता उपासते। तस्माद्युक्तं यद्विदितमुपास्यं तद्ब्रह्म भवेत्।
 ततोऽन्य उपासक इति तामेतामाशङ्कां शिष्यलिङ्गेनोपलक्ष्य तद्वाक्याद्वा ह मैवं
 शङ्किष्ठाः। यच्चैतन्यमात्रसत्ताकं वाचा वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु विषक्तमाग्नेयं
 वर्णानामभिव्यञ्जकं करणं वर्णाश्चार्थसंकेतपरिच्छिन्ना एतावन्त एव क्रमप्रयुक्ता
 इत्येवं तदभिव्यञ्ज्यशब्दः पदं वागित्युच्यते "अकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शान्त-
 स्थोष्मभिव्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति" इति श्रुतेः। मितममितं स्वरः
 सत्यानृते एव विकारो यस्यास्तथा वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्याऽनभ्यु-
 दितमप्रकाशितमनभ्युक्तं येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वागभ्युद्यते, चैतन्य-
 ज्योतिषा प्रकाशयते प्रयुज्यत इत्येतत्। यद्वाचो ह वागित्युक्तं वदन्वाक्। यो
 वाचमन्तरो यमयतीत्यादि च वाजसनेयके। "या वाक्पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता कश्चित्तां
 वेद ब्राह्मणः" इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तम् "सा वाग्यया स्वप्ने भाषते"
 इति। सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक्चैतन्यज्योतिःस्वरूपा। "न हि वक्तुर्वक्तेर्वि-
 परिलोपो विद्यते" इति श्रुतेः। तदेवाऽऽत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वा-
 दब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वं यैर्वागाद्युपाधिभिः वाचो ह वाक्चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य
 श्रोत्रं मनसो मनः कर्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्ये-
 वमादयः संव्यवहारा असंव्यवहार्ये निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते तान्व्युदस्याऽऽ-
 त्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीत्येवशब्दार्थः। नेदं ब्रह्म यदिदमित्युपाधिभेदविशिष्ट-
 मनात्मेश्वराद्युपास्ते ध्यायन्ति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्मेत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं
 पुनरुच्यते नियमार्थमन्यब्रह्मबुद्धिपरिसंख्यानार्थं वा ॥४॥

यन्मनसा न मनुते। मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते। मनुतेऽनेनेति मनः
 सर्वकरणसाधारणम्। सर्वविषयव्यापकत्वात्। "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽ-

* विधिरत्यन्तमप्राप्तौ निग्रमः पाक्षिके सतीति तत्र चान्यत्र प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।
 अपूर्व विधि निग्रम विधि परि संख्या विधि.

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुःश्रुतिं पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

जिसे (कोई) नेत्र से नहीं देखता है किन्तु जिससे नेत्रों को भी देखता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥६॥

जिसे (कोई) श्रोत्र से नहीं सुनता है, पर जिससे श्रोत्र इन्द्रिय सुनी जाती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिस इस (देश-काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥७॥

श्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" (बृ. १/५/३) इति श्रुतेः । कामादिवृत्तिमन्म-
नस्तेन मनसा यच्चैतन्यज्योतिर्मनसोऽवभासकं न मनुते न संकल्पयति नापि निश्चिनोति ।
मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात् । सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम् ।
अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषाऽवभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यं, तेन सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा
मतं विषयीकृतं व्याप्तमाहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः । तस्मात्तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं
ब्रह्म विद्धि । नेदमित्यादि पूर्ववत् ॥५॥

यच्चक्षुषा न पश्यति न विषयी करोत्यन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन, येन चक्षुःष्यन्तः-
करणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षुर्वृत्तिः पश्यति लोकश्चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकरोति
व्याप्नोति तदेवेत्यादि पूर्ववत् ॥६॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेनाऽऽकाशकार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयी-
करोति लोको येन श्रोत्रमिदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेवेत्यादि
पूर्ववत् ॥७॥

अज्ञान की दुरि रूपता.

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्ययुता

यत्प्राणेन प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। (क्रियशक्तिरव्यात्मविज्ञान

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

निमित्तमेव

अविषयत्वेन ब्रह्मणः आत्मनि अवस्थापनार्थः आरनायः

इति प्रथमः खण्डः ॥१॥

जिसे (कोई) नासिका छिद्रवर्ती घ्राण के द्वारा विषय नहीं करता है किन्तु जिस (चैतन्य आत्म ज्योति) से घ्राण अपने विषयों के प्रति जाता है उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिस इस (देशकाल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ॥८॥

यत्प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेनान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न विषयीकरोति येन चैतन्यात्मज्योतिषाऽवभास्यत्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः प्रणीयते। तदेवेत्यादि सर्वं समानम् ॥८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ

केनोपनिषत्पदभाष्ये प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं वाक्यभाष्यम्।

समाप्तं कर्मात्मभूतप्राणविषयं विज्ञानं कर्म चानेकप्रकारम्। ययोर्विकल्प-समुच्चयानुष्ठानादक्षिणोत्तराभ्यां सृतिभ्यामावृत्त्यनावृत्ती भवतः। अत ऊर्ध्वं फल-निरपेक्षज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानात्कृतात्मसंस्कारस्योच्छिन्नात्मज्ञानप्रतिबन्धकस्य द्वैतविषय-दोषदर्शिनो निर्ज्ञाताशेषबाह्यविषयत्वात्संसारबीजमज्ञानमुच्चिच्छित्सतः प्रत्यगात्म-विषयजिज्ञासोः केनेषितमित्यात्मस्वरूपतत्त्वविज्ञानायायमध्याय आरभ्यते। तेन च मृत्युपदमज्ञानमुच्छेत्तव्यं तत्तन्त्रो हि संसारो यतः। अनधिगतत्वादात्मनो युक्ता तदधिगमाय तद्विषया जिज्ञासा। कर्मविषये चानुक्तिः तद्विरोधित्वात्। अस्य विजिज्ञासितव्यस्याऽऽ-त्मतत्त्वस्य कर्मविषयेऽवचनम्। कस्मादिति चेदात्मनो हि यथावद्विज्ञानं कर्मणा विरुध्यते। निरतिशयब्रह्मस्वरूपो ह्यात्मा विजिज्ञापयिषितः। "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम्" इत्यादिश्रुतेः। न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कंचन नमितुमिच्छत्यतो ब्रह्मास्मीति

संबुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते। न ह्यात्मानमवाप्तार्थं ब्रह्म मन्यमानः प्रवृत्तिं प्रयोजनवर्ती पश्यति। न च निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरतो विरुध्यत एव कर्मणा ज्ञानम्। अतः कर्मविषयेऽनुक्तिर्विज्ञानविशेषविषयैव जिज्ञासा। कर्मानारम्भ इति चेन्न। निष्कामस्य संस्कारार्थत्वात्। यदि ह्यात्मविज्ञानेनाऽऽत्माविद्याविषयत्वात्परित्याजयिषितं कर्म ततः “प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्” इत्यनारम्भ एव कर्मणः श्रेयानल्पफलत्वादायासबहुलत्वात्तत्त्वज्ञानादेव च श्रेयःप्राप्तेरिति चेत्सत्यम्। एतदविद्याविषयं कर्माल्पफलत्वादिदोषवद्बन्धरूपं च सकामस्य। “कामान्यः कामयते” (मु. ३/२/२) “इति नु कामयमानः” इत्यादिश्रुतिभ्यः। न निष्कामस्य। तस्य तु संस्कारार्थान्येव कर्माणि भवन्ति तन्निर्वर्तकाश्रयप्राणविज्ञानसहितानि। “देवयाजी श्रेयानात्मयाजी वा” इत्युपक्रम्याऽऽत्मयाजी तु करोति “इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते” इति संस्कारार्थमेव कर्माणीति वाजसनेयके।

“महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।” (मनु. २/२८)

“यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्” (गी. १८/५)

इत्यादिस्मृतेश्च। प्राणादिविज्ञानं च केवलं कर्मसमुच्चितं वा सकामस्य प्राणात्मप्राप्त्यर्थमेव भवति। निष्कामस्य त्वात्मज्ञानप्रतिबन्धनिर्माष्ट्यै भवति। आदर्श-निर्माजनवत्। उत्पन्नात्मविद्यस्य त्वनारम्भो, निरर्थकत्वात्।

“कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः” इति। (महा. शा. २४२/७)

“क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवात्यरेचयत्” इति “त्यागे-नैके” “नान्यः पन्था विद्यते” इत्यादिश्रुतिभ्यश्च न्यायाच्च। उपायभूतानि हि कर्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य, ज्ञानेन त्वमृतत्वप्राप्तिः, “अमृतत्वं हि विन्दते” “विद्यया विन्दतेऽमृतम्” इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। नहि नद्याः पारगो नावं न मुञ्चति यथेष्ट-देशगमनं प्रति स्वातन्त्र्ये सति। नहि स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिषति साधनैः स्वभावसिद्धश्चाऽऽत्मा तथा नाऽऽपिपयिषितः। आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात्। नापि विचिकारयिषितः, आत्मत्वे सति नित्यत्वादविकारित्वादविषयत्वादमूर्तत्वाच्च।

श्रुतेश्च "न वर्धते कर्मणा" इत्यादि। स्मृतेश्च "अविकार्योऽयमुच्यते" इति। न च संचिकीर्षितः। "शुद्धमपापविद्धम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः। अनन्यत्वाच्च। अन्येनान्य-
त्संस्क्रियते न चाऽऽत्मनोऽन्यभूता क्रियाऽस्ति, न च स्वेनैवाऽऽत्मना स्वमात्मानं संचि-
कीर्षेत्। न च वस्त्वन्तराधानं नित्यं प्राप्तिर्वा वस्त्वन्तरस्य नित्या। नित्यत्वं चेष्टं
मोक्षस्य। अत उत्पन्नविद्यस्य कर्मारम्भोऽनुपपन्नः। अतो व्यावृत्तबाह्यबुद्धेरात्मविज्ञानाय
केनेषितमित्याद्यारम्भः। प्रवृत्तिलिङ्गाद्विशेषार्थः प्रश्न उपपन्नः। रथादीनां हि चेतना-
वदधिष्ठितानां प्रवृत्तिर्दृष्टा, नानधिष्ठितानाम्। मनआदीनां चाचेतनानां प्रवृत्तिर्दृश्यते।
तद्धि लिङ्गं चेतनावतोऽधिष्ठातुरस्तित्वे। करणानि हि मनआदीनि नियमेन प्रवर्तन्ते।
तन्नासति चेतनावत्यधिष्ठातर्युपपद्यते। तद्विशेषस्य चानधिगमाच्चेतनावत्सामान्ये
चाधिगते विशेषार्थः प्रश्न उपपद्यते केनेषितं केनेष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति
गच्छति स्वविषये नियमेन व्याप्रियत इत्यर्थः। मनुतेऽनेनेति विज्ञाननिमित्तमन्तःकरणं
मनः प्रेषितमिवेत्युपमार्थः। न त्विषितप्रेषितशब्दयोरर्थाविह संभवतः। न हि शिष्या-
निव मनआदीनि विषयेभ्यः प्रेषयत्यात्मा विविक्तनित्यचित्स्वरूपतया तु निमित्तमात्रं प्रवृत्तौ
नित्यचिकित्साधिष्ठातृवत्। प्राण इति नासिकाभवः। प्रकरणात्। प्रथमतः चलनक्रियायाः
प्राणनिमित्तत्वात्स्वतो विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः। चलिक्रिया तु प्राणस्यैव
मनआदिषु। तस्मात्प्राथम्यं प्राणस्य। प्रैति गच्छति युक्तः प्रयुक्त इत्येतत्। वाचो वदनं
किंनिमित्तं प्राणिनां, चक्षुःश्रोत्रयोश्च को देवः प्रयोक्ता। करणानामधिष्ठाता चेतनावान्यः
स किंविशेषण इत्यर्थः ॥१॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रतिवचनं निर्विशेषस्य निमित्तत्वार्थम्। विक्रियादि-
विशेषरहितस्याऽऽत्मनो मनआदिप्रवृत्तौ निमित्तत्वमित्येतच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रति-
वचनस्यार्थः। अनुगमात्तदनुगतानि ह्यत्रास्मिन्नर्थेऽक्षराणि। कथं? शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं
तस्य शब्दावभासकत्वं श्रोत्रत्वम्। शब्दोपलब्धिरूपतयाऽवभासकत्वं न स्वतः, श्रोत्रस्या-
चिद्रूपत्वात्। आत्मनश्च चिद्रूपत्वात्। यच्छ्रोत्रस्योपलब्धत्वेनावभासकत्वं तदात्म-
निमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युच्यते। यथा क्षत्रस्य क्षत्रं यथा वोदकस्यौष्ण्यमग्नि-

निमित्तमिति दग्धुरप्युदकस्य दग्धाऽग्निरुच्यते। उदकमपि ह्यग्निसंयोगादग्निरुच्यते तद्वदनित्यं यत्संयोगादुपलब्धत्वं तत्करणं श्रोत्रादि। उदकस्येव दग्धृत्वमनित्यं हि तत्र तत्। यत्र तु नित्यमुपलब्धृत्वमगनाविवौषण्यं स नित्योपलब्धिस्वरूपत्वाद्गन्धेवोपलब्धोच्यते। श्रोत्रादिषु श्रोतृत्वाद्युपलब्धिरनित्या, नित्या चाऽऽत्मन्यतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्यक्षराणामर्थानुगमादुपपद्यते निर्विशेषस्योपलब्धिस्वरूपस्याऽऽत्मनो मनआदिप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति। मनआदिष्वेवं यथोक्तम्। वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इति विभक्तिद्वयं सर्वत्रैव द्रष्टव्यम्। कथं पृष्टत्वात्स्वरूपनिर्देशः प्रथमयैव च निर्देशः। तस्य च ज्ञेयत्वात्कर्मत्वमिति द्वितीया। अतो वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इत्यस्मात्सर्वत्रैव विभक्तिद्वयम्। यदेतच्छ्रोत्राद्युपलब्धिनिमित्तं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिलक्षणं नित्योपलब्धिस्वरूपं निर्विशेषमात्मतत्त्वं बु [तद्बु] द्ध्वाऽतिमुच्यानवबोधनिमित्ताध्यारोपितादबुद्ध्यादिलक्षणात्संसारान्मोक्षणं कृत्वा धीरा धीमन्तः प्रेत्यास्माल्लोकाच्छरीरात्प्रेत्य वियुज्यान्यस्मिन्नप्रतिसंधीयमाने निर्निमित्तत्वादमृता भवन्ति। सति ह्यज्ञाने कर्माणि शरीरान्तरं प्रतिसंदधते आत्मावबोधे तु सर्वकर्मारम्भनिमित्ताज्ञानविपरीतविद्याग्निविप्लुष्टत्वात्कर्मणामित्यनारम्भेऽमृता एव भवन्ति। शरीरादिसंतानाविच्छेदप्रतिसंधानाद्यपेक्षयाऽध्यारोपितमृत्युवियोगात्पूर्वमप्यमृताः सन्तो नित्यात्मस्वरूपत्वादमृता भवन्तीत्युपचर्यते ॥२॥

न तत्र चक्षुर्गच्छतीत्युक्तेऽपि पर्यनुयोगे हेतुरप्रतिपत्तेः। श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्येवमादिनोक्तेऽप्यात्मतत्त्वेऽप्रतिपन्नत्वात्सूक्ष्मत्वहेतोर्वस्तुनः पुनः पुनः पर्यनुयुयुक्षाकारणमाह-न तत्र चक्षुर्गच्छतीति। तत्र श्रोत्राद्यात्मभूते चक्षुरादीनि वाक्चक्षुषोः सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थत्वान्न विज्ञानमुत्पादयन्ति। सुखादिवत्तर्हि गृह्येतान्तःकरणेनात आह-नो मनः। न सुखादिवन्मनसो विषयस्तत्। इन्द्रियाविषयत्वात्। न विद्वो न विजानीमोऽन्तःकरणेन यथैतद्ब्रह्म मनआदिकरणजातमनुशिष्यादनुशासनं कुर्यात्प्रवृत्तिनिमित्तं भवेत्तथाऽविषयत्वान्न विद्वो न विजानीमः। अथवा श्रोत्रादीनां श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्म विशेषेण दर्शयेत्युक्तः आचार्य आह न शक्यते दर्शयितुं, कस्मान्न तत्र चक्षुर्गच्छती-

- त्यादि पूर्ववत्सर्वमत्र तु विशेषो यथैतदनुशिष्यादिति । यथैतदनुशिष्यात्प्रतिपादयेत् । अन्योऽपि शिष्यानितोऽन्येन विधिनेत्यभिप्रायः । सर्वथाऽपि ब्रह्म बोधयेत्युक्त आचार्य आह, अन्यदेव तद्विदितादर्थो अविदितादधीत्यागमम् । विदिताविदिताभ्यामन्यत्वम् । यो हि ज्ञाता स एव सः । सर्वात्मकत्वात् । अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावाद्विदितादन्यत्वम् । “स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता” इति च मन्त्रवर्णात् । “विज्ञातारमरे केन विजानीयात्” इति च वाजसनेयके । अपि च, व्यक्तमेव विदितं तस्मादन्यदित्यभिप्रायः । यद्विदितं व्यक्तं तदन्य-
✓ विषयत्वादल्पं सविरोधं ततोऽनित्यमत एवानेकत्वादशुद्धमत एव तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम् । अस्तु तर्ह्यविदितम् । न, विज्ञानानपेक्षत्वात् । यद्व्यविदितं तद्विज्ञानापेक्षमविदितविज्ञानाय हि लोकप्रवृत्तिः । इदं तु विज्ञानानपेक्षं, कस्माद्विज्ञानस्वरूपत्वात् । न हि यस्य यत्स्वरूपं तत्तेनान्यतोऽपेक्ष्यते । न च स्वत एवापेक्षा । अनपेक्षमेव सिद्धत्वात् । न हि प्रदीपः स्वरूपा-
✓ भिव्यक्तौ प्रकाशान्तरमन्यतोऽपेक्षते स्वतो वा यद्व्यनपेक्षं तत्स्वत एव सिद्धम् । प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपस्यापेक्षितोऽप्यनर्थकः स्यात् । प्रकाशे विशेषाभावात् । नहि प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रदीपप्रकाशोऽर्थवान् । न चैवमात्मनोऽन्यत्र विज्ञानमस्ति येन स्वरूपविज्ञानेऽप्यपेक्ष्यते । विरोध इति चेन्नान्यत्वात् । स्वरूपविज्ञाने विज्ञानस्वरूपत्वा-
द्विज्ञानान्तरं नापेक्षत इत्येतदसत् । दृश्यते हि विपरीतज्ञानमात्मनि सम्यग्ज्ञानं च न जानाम्या-
त्मानमिति । श्रुतेश्च “तत्त्वमसि” “आत्मानमेवावेत्” “एतं वै तमात्मानं विदित्वा” इति च । सर्वत्र श्रुतिष्वात्मविज्ञाने विज्ञानान्तरापेक्षत्वं दृश्यते, तस्मात्प्रत्यक्षश्रुतिविरोध इति चेन्न । कस्मात् ।
✓ अन्यो हि स आत्मा बुद्ध्यादिकार्यकरणसंघाताभिमानसंतानाविच्छेदलक्षणोऽविवेकात्मको
✓ बुद्ध्यवभासप्रधानश्चक्षुरादिकरणो नित्यचित्स्वरूपात्मान्तःसारो यत्रानित्यं विज्ञानमवभासते ।
✓ बौद्धप्रत्ययानामाविर्भावतिरोभावधर्मकत्वात्तद्धर्मतयैव विलक्षणमपि चावभासते । अन्तःकरणस्य मनसोऽपि मनोऽन्तर्गतत्वात्सर्वान्तरश्रुतेः । अन्तर्गतेन नित्यविज्ञानस्वरूपेणाऽऽ-
काशवदप्रचलितात्मनाऽन्तर्गर्भभूतेन बाह्यो बुद्ध्यात्मा तद्विलक्षणोऽर्चिभिरिवाग्निः
प्रत्ययैराविर्भावतिरोभावधर्मकैर्विज्ञानाभासरूपैरनित्यैरनित्यविज्ञान आत्मा सुखी
दुःखीत्यभ्युपगतो लौकिकैरतोऽन्यो नित्यविज्ञानस्वरूपादात्मनः । तत्र हि विज्ञानापेक्षा

विपरीतज्ञानत्वं चोपपद्यते न पुनर्नित्यविज्ञाने । तत्त्वमसीति बोधोपदेशो नोपपद्यत इति चेत् ।
 आत्मानमेवावेदित्येवमादीनि च नित्यबोधात्मकत्वात् । न ह्यादित्योऽन्येन प्रकाशयतेऽ-
 तस्तदर्थबोधोपदेशोऽनर्थक इति चेन्न । लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात् । सर्वात्मनि हि नित्यविज्ञाने
बुद्ध्याद्यनित्यधर्मा लोकैरध्यारोपिता आत्माविवेकतस्तदपोहार्थो बोधोपदेशो बोधात्मनः । तत्र
 च बोधा बोधौ समञ्जसौ । अन्यनिमित्तत्वादुदक इवौष्ण्यमग्निनिमित्तम् रात्र्यहनी
 इवाऽऽदित्यनिमित्ते लोके नित्यावौष्ण्यप्रकाशावग्न्यादित्ययोरन्यत्र भावाभावयोर्निमित्त-
 त्वादनित्याविवोपचर्येते । धक्ष्यत्यग्निः प्रकाशयिष्यति सवितेति तद्वत् । एवं च सुख-
दुःखबन्धमोक्षाद्यध्यारोपो लोकस्य तदपेक्ष्य तत्त्वमस्यात्मानमेवावेदित्यात्मावबोधोपदेशेन
श्रुतयः केवलमध्यारोपापोहार्थाः । यथा सविताऽसौ प्रकाशयत्यात्मानमिति तद्वत् । बोधा-
 बोधकर्तृत्वं च नित्यबोधात्मनि । तस्मादन्यदविदितात् । अधिशब्दश्चान्यार्थः । यद्वा यद्धि
 यस्याधि तत्ततोऽन्यत्सामर्थ्याद्यथाऽधि भूत्यादीनां राजा । अव्यक्तमेवाविदितं ततोऽन्यदित्यर्थः ।
विदितमविदितं च व्यक्ताव्यक्ते कार्यकारणत्वेन विकल्पिते ताभ्यामन्यद्ब्रह्म विज्ञानस्वरूपं
सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमित्ययं समुदायार्थः । अत एवाऽऽत्मत्वान्न हेय उपादेयो वा । अन्यद्व्यन्येन
 हेयमुपादेयं वा । न तेनैर्वै तद्यस्य कस्यचिद्व्ययमुपादेयं वा भवति । आत्मा च ब्रह्म
 सर्वान्तत्वादविषयमतोऽन्यस्यापि न हेयमुपादेयं वा । अन्याभावाच्च । इति शुश्रुम
 पूर्वेषामित्यागमोपदेशः । व्याचक्षिरे इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थम् । ये नस्तद्ब्रह्मो-
 क्तवन्तस्ते नित्यमेवाऽऽगमं ब्रह्मप्रतिपादकं व्याख्यातवन्तो न पुनः स्वबुद्धिप्रभवेन
 तर्केणोक्तवन्त इत्यागमपारम्पर्याविच्छेदं दर्शयति विद्यास्तुतये । तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि
 भवतीति । ॥३॥

विदितान्यद्वयम्

यद्वाचेतिमन्त्रानुवादो दृढप्रतीतेः । अन्यदेव तद्विदितादिति योऽयमागमार्थो ब्राह्मणोक्तोऽ-
 स्यैव द्रष्टव्ये मन्त्रा यद्वाचेत्यादयः पठ्यन्ते । यद्ब्रह्म वाचा शब्देनानभ्युदितमनभ्युक्त-
 मप्रकाशितमित्येतत् । येन वागभ्युद्यत इति वाक्प्रकाशहेतुत्वोक्तिः । येन प्रकाशयत इति
 वाचोऽभिधानस्याभिधेयप्रकाशकत्वस्य हेतुत्वमुच्यते ब्रह्मणः । उक्तं च केनेषितां वाचमिमां
 वदन्ति यद्वाचो ह वाचमिति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्यविषयत्वेन ब्रह्मण आत्मन्यवस्थापनार्थं

- ✓ आम्नायः । यद्वाचाऽनभ्युदितं वाक्प्रकाशनिमित्तं चेति ब्रह्मणोऽविषयत्वेन वस्त्वन्तरजिघृक्षां
 ✓ निवर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापयत्याम्नायस्तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति यत्नत उपरमयति ।
 नेदमित्युपास्यप्रतिषेधाच्च ।।४।।

यन्मनसेत्यादि समानम् । मनोमतमिति । येन ब्रह्मणामनोऽपि विषयीकृतं नित्यविज्ञानस्वरू-
 पेणेत्येतत् । सर्वकरणानामविषयं तानि च सव्यापाराणि सविषयाणि नित्यविज्ञानस्वरूपाव-
 भासतया येनावभास्यन्त इति श्लोकार्थः । "क्षेत्रं^२ क्षेत्री^१ तथा कृत्स्नं^३ प्रकाशयति^४" इति^५ जीता १३३३
 स्मृतिः । "तस्य भासा" इति चाऽऽथर्वणे । येन प्राण इति । क्रियाशक्तिरप्यात्मविज्ञान-
निमित्तेत्येतत् ।।५।।६।।७।।८।।

इति प्रथमः खण्डः ।।१।।

।। १ - आह्निकम् ।।

ब्रह्मज्ञान की दुर्लभता.

अथ द्वितीयः खण्डः

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम्। त्वं वेत्थ अल्पं, निश्चितं
ब्रह्माणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नुमीमांशं - इति हेतुमीमांसायाः
स्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥१॥१॥ *Expression in the human body*
दर्पण प्रतिबिम्ब विशेष चेतन्य.

यदि (कदाचित्) ऐसा मानते हो कि (ब्रह्म को) मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ,
तो निश्चय ही तू ब्रह्म के रूप को थोड़ा ही जानते हो। इस ब्रह्म का जो मनुष्यों
में आध्यात्मिक और देवताओं में आधिदैविक रूप वदित है (वह अल्प ही है)। अतः
तेरे लिये ब्रह्म विचारणीय ही है। (इस प्रकार गुरु का उपदेश सुनकर शिष्य ने एकान्त
देश में विचार करने के पश्चात् कहा कि) मैंने ब्रह्म को जान लिया, ऐसा मैं समझता
हूँ ॥१॥

कं दग्धुर्गोऽयं दाहं दह-पयत्

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं पदभाष्यम् ॥

एवं हेयोपादेयविपरीतस्त्वमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः शिष्योऽहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेदाहं
मामिति गृहीयादित्याशङ्क्याऽऽचार्यः शिष्यबुद्धिविचालनार्थं यदीत्याह। नन्विष्टैव सुवेदाहमिति
निश्चिता प्रतिपत्तिः सत्यमिष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिर्न हि सुवेदाहमिति। यद्धि वेद्यं वस्तु ✓
विषयी भवति तत्सुष्ठु वेदितुं शक्यं दाहमिव दग्धुमग्नेर्दग्धुर्न त्वग्नेः स्वरूपमेव। सर्वस्य काहादि
हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः। इह च तदेव प्रतिपादितं ✓
प्रश्नप्रतिवचनोक्त्या श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्यया। यद्वाचाऽनभ्युदितमिति विशेषतोऽवधारितम्।
ब्रह्मवित्संप्रदायनिश्चयश्चोक्तोऽन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्युपन्यस्तमुपसंहरिष्यति ✓
चाविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति। तस्माद्युक्तमेव शिष्यस्य सुवेदेति बुद्धिं ✓
निराकर्तुम्। न हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्योऽग्निरिव दग्धुमग्नेः। (न चान्यो वेदिता
ब्रह्माणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत्स्याद्ब्रह्म। "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" (बृ. ३/८/११) इत्यन्यो ✓
विज्ञाता प्रतिषिध्यते। तस्मात्सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव। तस्माद्युक्तमेवाऽऽहाचार्यो
यदीत्यादि। यदि कदाचिन्मन्यसे सुवेदेति सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति। कदाचिद्यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि

क्षीणदोषः सुमेधाः कश्चित्प्रतिपद्यते कश्चिन्नेति साशङ्कमाह यदीत्यादि। दृष्टं च “य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म” (छा. ८/७/४) इत्युक्ते (प्राजापत्यः पण्डितोऽप्यसुरराड्विरोचनः स्वभावदोषवशादनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीरमात्मेति प्रतिपन्नः।। तथेन्द्रो देवराट्सकृद्विस्त्ररुक्तं चाप्रतिपद्यमानः (स्वभाव-^{मत्} दोषक्षयमपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान्।) लोकेऽप्येकस्माद्गुरोः शृण्वतां ^{विशेष} कश्चिद्यथावत्प्रतिपद्यते कश्चिदयथावत्कश्चिद्विपरीतं कश्चिन्न प्रतिपद्यते, किमु वक्तव्यमतीन्द्रिय-^{आवरण} मात्मतत्त्वम्। अत्र हि विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे। तस्मादविदितं ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विषमप्रतिपत्तित्वाद्यदि मन्यस इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेवाऽऽचार्यस्य। दहरमल्पमेवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम्। (किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि ^{८१} महान्त्यर्भकाणि च येनाऽऽह दहरमेवेत्यादि। बाढम्।) (अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि न स्वतः। स्वतस्तु “अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्” (क. १/३/१५) इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते। ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपमिति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषेण निरूपणं तदेव तस्य रूपं स्यादत उच्यते। चैतन्यं पृथिव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा धर्मो न भवति। तथा श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च धर्मो न भवतीति। ब्रह्मणो रूपमिति। ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन। तथा चोक्तम्— “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” “विज्ञानघन एव” “सत्यं ज्ञानमनन्तम्” “प्रज्ञानं ब्रह्म” इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु। सत्यमेवं, तथाऽपि तदन्तःकरणदेहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते तदनुकारित्वाद्देहादिवृद्धिसंकोचच्छेदादिषु नाशेषु च न स्वतः। स्वतस्त्वविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानतामिति स्थितं भविष्यति। यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण संबन्धः। न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमल्पं वेत्थ यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वं तदपि नूनं दहरमेव वेत्थेति मन्येऽहम्। यदध्यात्मं यदधिदैवं तदपि च देवेषूपोपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्दहरत्वान्न निवर्तते। (यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ^{८२} ब्रह्म न तत्सुवेद्यमित्यभिप्रायः।) यत एवमथ नु तस्मान्मन्येऽद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म। एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्ते उपविष्टः समाहितः सन्यथोक्तमाचार्येणाऽऽ-

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥१०॥१२॥

ब्रह्म को अच्छी प्रकार जान लिया ऐसा भी मैं नहीं मानता हूँ और मैं उसे नहीं जानता हूँ, ऐसा भी नहीं समझता। अतः (ब्रह्म को) मैं जानता हूँ (और नहीं भी जानता हूँ)। हम शिष्यों में से जो कोई ब्रह्म को न तो नहीं जानता हूँ और जानता भी हूँ, इस प्रकार जानता है, वही (वस्तुतः ब्रह्म को) जानता है॥१२॥

गममर्थतो विचार्य तर्कतश्च निर्धार्य स्वानुभवं कृत्वाऽऽचार्यसकाशमुपगम्योवाचमन्येऽ-
हमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति॥११॥१॥

कथमिति। शृणुत। नाहं मन्ये सुवेदेति नैवाहं मन्ये सुवेद ब्रह्मेति। नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्मेत्युक्तं आह—नो न वेदेति वेद च। वेद चेति च शब्दान्न वेद च। ननु विप्रतिषिद्धं नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद चेति। यदि न मन्यसे सुवेदेति कथं मन्यसे वेद चेति। अथ मन्यसे वेदैवेति कथं न मन्यसे सुवेदेति।

एकं वस्तु येन ज्ञायते तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा। न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति नियन्तुं शक्यम्। संशयविपर्ययौ

हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ। एवमाचार्येण विचार्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल।

"अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" इत्याचार्योक्तागमसंप्रदायबलादुपपत्त्यनुभवबलाच्च

(जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शयन्नात्मनः। कथमित्युच्यते। यो यः कश्चिन्नोऽस्माकं)

सब्रह्मचारिणां मध्ये तन्मदुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद स तद्ब्रह्म वेद। किं पुनस्तद्वचनमित्यत

आह—नो न वेदेति वेद चेति। यदेवान्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्युक्तं

वस्त्वनुमानानुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न वेदेति वेद चेत्यवोचदा-

चार्यबुद्धिसंवादाथ मन्दबुद्धिग्रहणव्यपोहार्थं च। तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति यो

नस्तद्वेदेति॥१०॥१२॥

२०
ब्रह्मवेत्ता अज्ञ है और अज्ञ जानी है। ३५५
श्रुति: बोधयति। यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।

अविदितमेव ब्रह्म अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥११॥३॥ इन्द्रियादिषु आत्म
निरूपणाय

जिस (ब्रह्मवेत्ता)को ब्रह्म अविदित है, उसी को ब्रह्म वस्तुतः विदित है (ऐसा समझना चाहिये और) जिसे ब्रह्म विदित है वह (वस्तुतः उसे) नहीं जानता (क्योंकि वह ब्रह्म) जानने वालों को अविज्ञात रहता है और न जानने वाले को ज्ञात होता है (अर्थात् अन्य वस्तु की भाँति फलव्याप्ति का विषय न होने से और ब्रह्माकार वृत्ति का भी साक्षी होने से ऐसा कहा गया है; अतः विद्वानों की दृष्टि में स्वयंप्रकाश वह सदा अविषय ही माना गया है) ॥३॥

शिष्याचार्यसंवादात्प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्तसंवादनिर्वृत्तमर्थमेव बोधयति—यस्यामतमित्यादिना। यस्य ब्रह्मविदोऽमतमविज्ञातमविदितं ब्रह्मेति मतमभिप्रायो निश्चयस्तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मेत्यभिप्रायः। यस्य पुनर्मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयो न वेदैव स न ब्रह्म विजानाति सः। विद्वदविदुषोर्यथोक्तौ पक्षावधारयति—अविज्ञातममतमविदितमेव ब्रह्म, विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत्। विज्ञातं विदितं ब्रह्मविजानतामसम्यग्दर्शनामिन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवाऽऽत्मदर्शनामित्यर्थः। न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम्। न हि तेषां विज्ञातमस्माभिर्ब्रह्मेति मतिर्भवति। इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्व्वात्मदर्शनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भाद्बुद्ध्युपाधेश्च विज्ञातत्वाद्विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतोऽसम्यग्दर्शनपूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते विज्ञातमविजानतामिति। अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धोऽविज्ञातमित्यादिः। ॥११॥३॥

अविज्ञातं विजानतामित्यवधृतम्। यदि (ब्रह्मात्यन्तमेवाविज्ञातं लौकिकानां ब्रह्मविदां चाविशेषः प्राप्तः। अविज्ञातं विजानतामिति च परस्परविरुद्धम्। कथं तु तद्ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्येवमर्थमाहुः) प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम्। (बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते। सर्वे प्रत्यया विषयी भवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रतिबुध्यते सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते, नान्यद्वारमात्मनो विज्ञानायातः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा तदा तन्मतं तदा तत्सम्यग्दर्शनमित्यर्थः।) सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजननापायवर्जितदृक्स्वरूपतानित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्। लक्षणभेदाभावद्वयोऽग्न इव आकाशस्य घटगिरिगुहादिषु। विदिताविदिताभ्यामन्यद्ब्रह्मेत्यागमवाक्यार्थः, एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो

अवानी शंकरो वन्दे आद्याविद्यासरूपिणौ
यथा विना न पश्यन्ति सिद्धास्वान्तस्थमीश्वरम् ॥
विना आद्याविद्यासक ज्ञान नही होगा

प्रत्येक बोध में ब्रह्म का अनुभवोपनिषत् द्वितीयः खण्डः

२१

उपसंहारः प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते। यथा स द्रव्य स नही
विज्ञास्य आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥१२॥१४॥ इव नेकी वीर्य

जो बोध-बोध के प्रति (प्रत्येक बोध में प्रत्यगात्मा रूप से) विदित है, वही ब्रह्म है और यही उस ब्रह्म का ज्ञान है। ऐसे ब्रह्मज्ञान से ही अमरत्व को प्राप्त करता है। अमरत्व नित्य आत्मस्वरूप से ही प्राप्त होता है, ब्रह्माकार वृत्तिरूप से तो आवरण निवृत्त करने का सामर्थ्य मात्र मिलता है (अर्थात् विद्या से आवरण की निवृत्ति होने पर अमरत्व नित्य चैतन्य आत्मस्वरूप से ही मिलता है; अन्य से नहीं) ॥१४॥

११ आत्म विद्याकृत वीर्यं द्रव्यं शक्तौ अधिभविष्यति

भवति। "दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता" इति हि श्रुत्यन्तरम्। यदा पुनर्बोध-क्रियाकर्तृति बोधक्रियालक्षणेन तत्कर्तारं विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं प्रतिबोध-आत्मा विदितमिति व्याख्यायते। यथा यो वृक्षशाखाश्चालयति स वायुरिति तद्वत्। तदा बोधक्रियाशक्तिमानात्मा द्रव्यं, न बोधस्वरूप एव। बोधस्तु जायते विनश्यति च। यदा बोधो जायते, तदा बोधक्रियया सह विशेषः। यदा बोधो नश्यति, तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः। तत्रैवं सति विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते। यदपि काणादानामात्ममनःसंयोगजो बोध आत्मनि समवैति। अत आत्मनि बोद्धृत्वं, नतु विक्रियात्मक आत्मा। द्रव्यमात्रस्तु भवति घट इव रागसमवायी। अस्मिन्पक्षेऽप्यचेतनं

द्रव्यमात्रं ब्रह्मेति "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः। आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावान्नित्यसंयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्तिरपरिहार्या स्यात्। संसर्गधर्मित्वं चाऽऽत्मनः श्रुतिस्मृत्यन्यायविरुद्धं कल्पितं स्यात्। "असङ्गो न हि सज्जते" ॥३॥१३॥

१३ "असक्तं सर्वभृत्" इति श्रुतिस्मृती द्वे। न्यायश्च गुणवदगुणवता संसृज्यते, नातुल्यजातीयम्। अतो निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यते इत्येतन्न्यायविरुद्धं भवेत्। तस्मान्नित्यालुप्तविज्ञानस्वरूपज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्वबोधबोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति, नान्यथा। तस्मात्प्रतिबोधविदितं मतमिति यथाव्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः। यत्पुनः स्वसंवेद्यता प्रतिबोधविदितमित्यस्य वाक्यस्यार्थो वर्ण्यते, तत्र भवति सोपाधिकत्वे आत्मनो बुद्ध्युपाधिस्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्याऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्तीतिसंव्यवहारः। "आत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति" (बृ. ४/४/२३) "स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम" (गी. १०/१५) इति। नतु निरुपाधिकस्याऽऽत्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा संभवति। संवेदनस्वरूपत्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न संभवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न

— भू + भुक् + क्तिप्

अहं = बुद्धिबृत्ति + आभास + अदिच्छान्

आयन = अधान आयनरत
 * प्रेत्य में षट् नहीं तुकोरसिद्धः "अन्तादि वद् भावे"
 प्र इ तुके लोप्

२२ षट्, तुकोरसिद्धः मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्ययुता
 गद्यविद्या ही अन्तादि वद् भावे
 सार है! इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः
 विज्ञाय भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥१३॥५॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥२॥

यदि इस मनुष्य जन्म में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है और यदि उसे इस मनुष्य जन्म रहते-रहते नहीं जाना तो बड़ी भारी क्षति होगी। अतः बुद्धिमान् पुरुष समस्त प्राणियों में उस ब्रह्मतत्त्व को प्रत्यक्ष अनुभव करके इस लोक से जाकर (अद्वैतभाव रूप से) अमर हो जाते हैं (अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं) ॥५॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥

संभवस्तद्वत्। बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्। "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्"। "नित्यं विभुं सर्वगतम्" "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः" इत्याद्याः श्रुतयो बाध्येरन्। यत्पुनः प्रतिबोधशब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधो यथा सुप्तस्येत्यर्थं परिकल्पयन्ति। सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे। निर्निमित्तः सनिमित्तः सकृद्वाऽसकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः। अमृतत्वममरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्माद्विन्दते लभते यथोक्तात्प्रतिबोधात्प्रतिबोधविदितात्मकात्तस्मात्प्रतिबोधविदितमेव मतमित्यभिप्रायः। बोधस्य हि प्रत्यगात्माऽऽत्मविषयं च मतममृतत्वे हेतुः। न ह्यात्मनोऽनात्मत्वममृतत्वं भवत्यात्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव। एवंमर्त्यत्वमात्मनो यदविद्ययाऽनात्मत्वप्रतिपत्तिः। कथं पुनर्यथोक्तयाऽऽत्मविद्ययाऽमृतत्वं विन्दते? आह आत्मना स्वेन स्वरूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यं धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुमनित्यवस्तुकृतत्वात्। आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दते, नान्येनेत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम्। यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दतेऽतो विद्ययाऽऽत्मविषयया विन्दतेऽमृतम्, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इत्याथर्वणे। अतः समर्थो हेतुः, "अमृतत्वं हि विन्दते" इति ॥१२॥४॥

कष्टा खलु सुरनरतिर्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्मजरामरणरोगादिसंप्राप्तिरज्ञानादत इहैव चेन्मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन्न्यद्यवेदीदात्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान्यथोक्तेन प्रकारेण। अथ तदास्ति सत्यं मनुष्यजन्मन्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वासिद्धावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते। न चेदिहावेदीदिति। न चेदिह

अविद्या वृत्ति मे अधिष्पत्त चेतन्य सोऽपुष्ट आनन्द का कारणः

जीवंश्चेदधिकृतोऽवेदीन्न विदितवांस्तदा महती दीर्घाऽनन्ता । विनष्टिर्विनाशनं
जन्मजरामरणादिप्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगतिस्तस्मादेवं गुणदोषौ विजानन्तो
ब्राह्मणा भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु चैकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य
विज्ञाय साक्षात्कृत्य धीरा धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभावलक्षणादविद्यारूपा-
दस्मात्ल्लोकादुपरम्य सर्वात्मैकत्वभावमद्वैतमापन्नाः सन्तोऽमृता भवन्ति इत्यर्थः । "स
यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु. ३/२/९) इति श्रुतेः ॥१३॥५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ केनो-

पनिषत्पदभाष्ये द्वितीयः खण्डः ॥२॥

अप्रमाण्यं सिद्धा मन्ये = (सिद्धा ब्राह्मणसंज्ञाये) (सिद्धा सिद्धा ब्रह्मणं संज्ञापी)

अथ श्रीमच्छंकराचार्यविरचितं वाक्यभाष्यम् ।

यदि मन्यसे सुवेदेति शिष्यबुद्धिविचालना गृहीतस्थिरतायै । विदिताविदिताभ्यां निवर्त्य
बुद्धिं शिष्यस्य स्वात्मन्यवस्थाप्य तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति स्वाराज्येऽभिषिच्योपास्यप्रति-
षेधेनाथास्य बुद्धिं विचालयति । यदि मन्यसे सुवेदाहं ब्रह्मेति त्वं, ततोऽल्पमेव ब्रह्मणो रूपं
वेत्थ त्वमिति नूनं निश्चितं मन्यते इत्याचार्यः । सा पुनर्विचालना किमर्थेत्युच्यते पूर्वगृहीते
वस्तुनि बुद्धेः स्थिरतायै । देवेष्वपि सुवेदाहमिति मन्यते यः सोऽप्यस्य ब्रह्मणो रूपं दहरमेव
वेत्ति नूनम् । कस्मात् । अविषयत्वात्कस्यचिद्ब्रह्मणः । अथवाऽल्पमेवास्याऽऽध्यात्मिकं मनुष्येषु
देवेषु च आधिदैविकमस्य ब्रह्मणो यद्रूपं तदिति संबन्धः । अथ न्विति हेतुमीमांसायाः ।
यस्माद्दहरमेव सुविदितं ब्रह्मणो रूपमन्यदेव तद्विदितादित्युक्तत्वात्सुवेदेति च मन्यसेऽतोऽ-
ल्पमेव वेत्थ त्वं ब्रह्मणो रूपं यस्मादथ नु तस्मान्मीमांस्यमेवाद्यापि ते तव ब्रह्म विचार्यमेव
यावद्विदिताविदितप्रतिषेधागमार्थानुभवः इत्यर्थः । मन्ये विदितमिति शिष्यस्य मीमांसा-
नन्तरोक्तिः प्रत्ययत्रयसंगतेः । सम्यग्वस्तुनिश्चयाय विचालितः शिष्य आचार्येण मीमांस्यमेव
ते इति चोक्तः एकान्ते समाहितो भूत्वा विचार्य यथोक्तं सुपरिनिश्चितः सन्नाहाऽऽ-
गमाचार्यात्मानुभवप्रत्ययत्रयस्यैकविषयत्वेन संगत्यर्थम् । एवं हि सुपरिनिष्ठिता विद्या
सफला स्यान्नानिश्चितेति न्यायः प्रदर्शितो भवति । मन्ये विदितमिति परिनिष्ठितनिश्-
चितविज्ञानप्रतिज्ञाहेतूक्तेः ॥१॥११॥

परिनिष्ठितं सफलं विज्ञानं प्रतिजानीतः आचार्यात्मनिश्चययोस्तुल्यतायै। यस्माद्धेतु-

५२६

माह नाह मन्ये सुवेदेति। अहेत्यवधारणार्थो निपातो नैव मन्य इत्येतत्। यावद-
✓ परिनिष्ठितं विज्ञानं तावत्सुवेद सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति विपरीतो मम निश्चय आसीत्।

सोऽपजगाम भवद्विर्विचालितस्य यथोक्तार्थमीमांसाफलभूतात्स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपा-
त्सम्यक्प्रत्ययाद्विरुद्धत्वात्। अतो नाह मन्ये सुवेदेति। यस्माच्च तन्नैव न वेदेति मन्य
इत्यनुवर्तते। अविदितब्रह्मप्रतिषेधात्। कथं तर्हि मन्यस इत्युक्त आह-वेद च। चशब्दाद्वेद
च न वेद चेत्यभिप्रायः। विदिताविदिताभ्यामन्यत्वादब्रह्मणस्तस्मान्मया विदितं ब्रह्मेति

न+उ

ही
कृतः

मन्य इति वाक्यार्थः। अथवा वेद चेति नित्यविज्ञानब्रह्मस्वरूपतया नो न वेद वेदैव
चाहं, स्वरूपविक्रियाभावात्। विशेषविज्ञानं च पराध्यस्तं न स्वत इति पुरमार्थतो न इत्येते
च वेदेति। यो नस्तद्वेद तद्वेदेतिपक्षान्तरनिरासार्थमाप्नाय उक्तार्थानुवादात्। यो नोऽस्माकं
मध्ये स एव तद्ब्रह्म वेद नान्यः१ उपास्यब्रह्मवित्त्वात् अतोऽन्यस्य यथाऽहं वेदेति
पक्षान्तरे ब्रह्मवित्त्वं निरस्यते। कुतोऽयमर्थोऽवसीयते इत्युच्यते। उक्तानुवादादुक्तं ह्यनुवदति
नो न वेदेति वेद चेति ॥१०॥१२॥ ५ शिष्यानुभवपक्षात् अ-यः

यस्यामतमिति श्रौतमाख्यायिकार्थोपसंहारार्थम्। शिष्याचार्योक्तिप्रत्युक्तिलक्षण-
याऽनुभवयुक्तिप्रधानयाऽऽख्यायिकया योऽर्थः सिद्धः, स श्रौतेन वचनेनाऽऽगमप्रधानेन
निगमनस्थानीयेन संक्षेपत उच्यते। यदुक्तं विदितादन्यद्वागादीनामगोचरत्वात्।
मीमांसितं चानुभवोपपत्तिभ्यां ब्रह्म तत्तथैव ज्ञातव्यं, कस्मात्। यस्यामतं यस्य विवि-
दिणाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य साधकस्यामतमविज्ञातमविदितं ब्रह्मेत्यात्मत्वनिश्चयफला-
वसानावबोधतया विविदिषा निवृत्तेत्यभिप्रायः। तस्य मतं ज्ञातं तेन विदितं ब्रह्म येना-

✓ अ विषयत्वेनाऽऽत्मत्वेन प्रतिबुद्धमित्यर्थः। स सम्यग्दर्शी, यस्य विज्ञानानन्तरमेव ब्रह्मात्मभा-
वस्यावसितत्वात्सर्वतः कार्याभावो, विपर्ययेण मिथ्याज्ञानो भवति। कथं? मतं विदितं ज्ञातं
मया ब्रह्मेति यस्य विज्ञानं स मिथ्यादर्शी, विपरीतविज्ञानो विदितादन्यत्वाद-
ब्रह्मणो न वेद, स न विजानाति। ततश्च सिद्धमवैदिकस्य विज्ञानस्य मिथ्यात्वम्। अब्रह्मविषय-
तया निन्दितत्वात्तथा कपिलकणभुगादिसमयस्यापि विदितब्रह्मविषयत्वादन-
वस्थिततर्कजन्यत्वाद्विविदिषाऽनिवृत्तेश्च मिथ्यात्वमिति। स्मृतेश्च-

— — — “या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।

सर्वास्ता निष्फलाः प्रोक्तास्तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः” (मनु. १२/९५)

इति। विपरीतमिथ्याज्ञानयोरनिष्टत्वादिति। अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातम-
विज्ञानतामिति पूर्वहेतूक्तिरनुवादस्याऽऽनर्थक्यात्। अनुवादमात्रेऽनर्थकं वचनमिति
पूर्वोक्तयोर्यस्यामतमित्यादिना ज्ञानाज्ञानयोर्हेत्वर्थत्वेनेदमुच्यते। अविज्ञातमविदितमात्मत्वे-
नाविषयतया ब्रह्म विज्ञानतां यस्मात्तस्मात्तदेव ज्ञानं, यत्तेषां विज्ञातं विदितं व्यक्तमेव
बुद्ध्यादिविषयं ब्रह्माविज्ञानतां विदिताविदितव्यावृत्तमात्मभूतं नित्यविज्ञानस्वरूप-
मात्मस्थमविक्रियममृतमजरमभयमनन्यत्वादविषयमित्येवमविज्ञानताम्। बुद्ध्यादिविषया-
त्मतयैव नित्यं विज्ञातं ब्रह्म। तस्माद्विदिताविदितव्यक्ताव्यक्तधर्माध्यारोपेण कार्यकारण-
भावेन च सविकल्पमयथार्थविषयत्वात्। शुक्तिकादौ रजताद्यध्यारोपणज्ञानवन्मिथ्याज्ञानं

तेषाम् ॥११॥३॥

पहला प्रकाश बाद में वस्तु का प्रत्यक्ष ही ब्रह्म रूप है। आत्मबोध = व्यापक
अहमनोवृत्ति = व्याप्य।

प्रतिबोधविदितं मतमिति। वीप्साप्रत्ययानामात्मावबोधद्वारत्वादबोधं प्रति बोधं

प्रतीति वीप्सा सर्वप्रत्ययव्याप्यार्था। बौद्धा हि सर्वे प्रत्ययास्तप्तलोहवन्नित्यविज्ञान-

स्वरूपात्मव्याप्तत्वाद्विज्ञानस्वरूपावभासास्तदन्यावभासश्चाऽऽत्मा तद्विलक्षणोऽग्निवदुप-

लभ्यत इति तेन ते द्वारीभवन्त्यात्मोपलब्धौ। तस्मात्प्रतिबोधावभासप्रत्यगात्मतया यद्विदितं

तद्ब्रह्म तदेव मतं ज्ञातं तदेव सम्यग्ज्ञानं यत्प्रत्यगात्मविज्ञानं न विषयविज्ञानम्। आत्मत्वेन

प्रत्यगात्मानमैक्षदिति च काठके। (“अमृतत्वं हि विन्दते” इति हेतुवचनं विपर्यये मृत्युप्राप्तेः।)

विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः प्रारभत इत्यात्मविज्ञानममृतत्वनिमित्तमिति युक्तं हेतुवचनम-

मृतत्वं हि विन्दत इति। आत्मज्ञानेन किममृतत्वमुत्पाद्यते? न। कथं तर्हि। आत्मना विन्दते

स्वेनैव नित्यात्मस्वभावेनामृतत्वं विन्दते। नाऽऽलम्बनपूर्वकम्। विन्दत इत्यात्मविज्ञानापेक्षम्।

यदि हि विद्योत्पाद्यममृतत्वं स्यादनित्यं भवेत्कर्मकार्यवत्। अतो न विद्योत्पाद्यम्। यदि

चाऽऽत्मनैवामृतत्वं विन्दते किं पुनर्विद्यया क्रियत इत्युच्यते। अनात्मविज्ञानं निवर्तयन्ती सा

तन्निवृत्त्या स्वाभाविकस्यामृतत्वस्य निमित्तमिति कल्प्यते। यत आह वीर्यं विद्यया विन्दते।

वीर्यं सामर्थ्यमनात्माध्यारोपमायास्वान्तध्वान्तानभिभाव्यलक्षणं बलं विद्यया विन्दते। तच्च

किंविशिष्टम्। अमृतमविनाशि। अविद्याजं हि वीर्यं विनाशि। विद्यायाऽविद्याया बाध्यत्वात्।
 न तु विद्याया बाधकोऽस्तीति विद्याजममृतं वीर्यम्। अतो विद्याऽमृतत्वे निमित्तमात्रं भवति।
 "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति चाऽऽथर्वणे। लोकेऽपि विद्याजमेव बलमभिभवति न
 शरीरादिसामर्थ्यं यथा हस्त्यादेः। अथवा प्रतिबोधविदितं मतमिति सकृदेवाशेष-
 विपरीतनिरस्तसंस्कारेण स्वप्नप्रतिबोधवद्यद्विदितं तदेव मतं ज्ञातं भवतीति। अथवा
गुरूपदेशः प्रतिबोधस्तेन वा विदितं मतमित्युभयत्र प्रतिबोधनशब्दप्रयोगोऽस्ति। सुप्त-
प्रतिबुद्धो गुरुणा प्रतिबोधित इति। पूर्व तु यथार्थम् ॥१२॥४॥

इह चेदवेदीदित्यवश्यकर्तव्यतोक्तिर्विपर्यये विनाशश्रुतेः। इह मनुष्यजन्मनि
 सत्यवश्यमात्मा वेदितव्य इत्येतद्विधीयते। कथमिह चेद्वेदीद्विदितवान्। अथ सत्यं
 परमार्थतत्त्वमस्त्यवाप्तं तस्य जन्म सफलमित्यभिप्रायः। न चेदिहावेदीन्न विदितवान्वृथैव
 जन्म। अपि च महती विनष्टिर्महान्विनाशो जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदप्राप्तिलक्षणः
 स्याद्यतस्तस्मादवश्यं तद्विच्छेदाय ज्ञेयः आत्मा। ज्ञानेन तु किं स्यादित्युच्यते—
 भूतेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वेष्वित्यर्थः। विचित्य पृथङ्निष्कृष्यैकमात्मतत्त्वं संसार-
 धर्मैरस्पृष्टमात्मभावेनोपलभ्येत्यर्थः। अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। न पुनश्चित्वेति संभवति चायन
 विरोधात्। धीराः धीमन्तो विवेकिनो विनिवृत्तबाह्यविषयाभिलाषाः। प्रेत्य मृत्वाऽस्माल-
 लोकाच्छरीराद्यनात्मलक्षणादव्यावृत्तममत्वाहंकाराः सन्त इत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो
 नित्यविज्ञानामृतत्वस्वभावा एव भवन्ति ॥१३॥५॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥२॥

॥२॥ आह्निकम् ॥

परमेष्ठिस्त्वयाधिः : शुद्धसच्चप्रधाना त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरित्यर्थः

जीवत्कोपाद्विद्या = अस्मिन् सच्चप्रधाना प्रकृतेरेव रूपान्तरमित्यर्थः

प्रमाणान्तरं विरोधेऽस्ति आद्या च अविद्या न स्वयमेव भवतीति श्रुतेः
 तर्थादः विशेषः ① प्रमाणान्तरावगतार्थे बोधकोऽर्थवादः -स्त्रिधा मतः
 ② आदिषोऽयम् ③ अस्मिन्मस्य अक्षयम् ④ तत्काले तद्गुणस्वापकः
 प्रशस्ति निन्दा अन्यतरं वाक्यं अर्थवादः ⑤ इत्येव प्रमाणं ये होनवान् वाद्य-
 तथा येनाश्रुते श्रुते भवति इति अद्वितीयवस्तुप्रशंसनम् ⑥ य एव प्रहस्त पुरन्दरः
 दाधीनप्रवृत्ति उत्तमशक्तः प्रकरणप्रतिपक्षस्य प्रशंसनम्

- (a) ब्रह्माविज्ञातत्वाद् असदेवेति मन्दबुद्धिनां व्यामोहो मा भूदिति
 (b) अथवा ब्रह्म विद्यायाः स्तुतये
 (c) प्राणिनां कर्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्येतदर्थेनार्थं वाऽऽख्यायिका
 (d) शमाद्यर्थे वाऽऽज्ञातोऽभिमानश्चातनात् ॥ "निमित्तमात्रं अवसथसामिन्"
 (e) सगुणोपासनार्थे वा अपोदितत्वात्
 देवताओं का गर्व.

अथ तृतीयः खण्डः

अर्थवाङ्मय ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो

विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्मा-

कमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१४॥१॥

यह प्रसिद्ध है कि पूर्वोक्त ब्रह्म ने (देवासुर संग्राम में) देवताओं के लिये (असुरों को) जीता। उसी ब्रह्म की विजय में देवता लोग महिमान्वित हुए (उस बात को भूलकर) देवताओं ने सोचा, यह विजय हमारी ही है और यह महिमा भी हमारी ही है ॥१४॥

॥ अथश्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितंपदभाष्यम् ॥

६५

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इत्यादिश्रवणाद्य-
 दस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैर्यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्यन्तमेवासददृष्टम्। तथेदं
 ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धिनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिकाऽऽरभ्यते।
 तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तु देवानामपि परो देव ईश्वराणामपीश्वरो दुर्विज्ञेयो
 देवानां जयहेतुरसुराणां पराजयहेतुस्तत्कथं नास्तीत्येतस्यार्थस्यानुकूलानि ह्युत्तराणि
 वचांसि दृश्यन्ते। अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये। कथं? ब्रह्मविज्ञानाद्ध्यग्न्यादयो देवा
 देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुस्ततोऽप्यतितरामिन्द्र इति। अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत्प्रदर्शयते।
 येनाग्न्यादयोऽतितेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तस्तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि
 सन्निति वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिपरं वा सर्वं ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्तृत्वाद्य-
 भिमानो मिथ्येत्येतदर्थेनार्थं वाऽऽख्यायिका। यथा देवानां जयाद्यभिमानस्तद्वदिति।
 ब्रह्मयथोक्तलक्षणं परं ह किल देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवद्देवानामसुराणां च
 सङ्ग्रामेऽसुराञ्जित्वा जगदरातीनीश्वरसेतुभेतृन्देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेप्ने।
 तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवा अग्न्यादयोऽमहीयन्त महिमानं प्राप्तवन्तस्तदाऽऽत्म-
 संस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेर्जगतः
 स्थितिं चिकीर्षोरयं जयो महिमा चेत्यजानन्तस्ते देवा ऐक्षन्तेक्षितवन्तोऽग्न्यादिस्वरूप-

④ ता कर इत अनन्त जेहि सिरज / जरा न सो सि वेहि कारण गिरिजा (इत)
जारा नगर निमिष एक माहि । एक विभीषण कर गृह नही-

ह का प्रादुर्भाव.

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्ययुता

तद्वैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत
किमिदं यक्षमिति ॥१५॥१२॥

प्रश्न की परीक्षा. (३-६)

④ तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति
तथेति ॥१६॥१३॥

देवताओं के (इस मिथ्या) अभिप्राय को उस ब्रह्म ने जान लिया (और वह) देवताओं के सामने (अपने योगमाहात्म्य से निर्मित यक्ष रूप में) प्रकट हुआ। (तब देवता लोग) उसे न जान सके कि यह यक्ष कौन है॥१२॥

उन देवताओं ने अग्नि से कहा—हे जातवेद! इसे जानो तो सही, कि यह यक्ष कौन है? अग्नि ने कहा—अच्छी बात॥१३॥

परिच्छिन्नात्मकृतोऽस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमाऽग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते, नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति ॥१४॥११॥

एवं मिथ्याभिमानेक्षणवताम्—

तद्व किलैषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञातवद्ब्रह्म। सर्वेक्षितृ हि तत्सर्वभूतकरण-प्रयोक्तृत्वाद्देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य मैवासुरवद्देवा मिथ्याभिमानात्पराभवेयुरिति तदनुकम्पया देवान्मिथ्याभिमानापनोदनेनानुगृहीयामिति तेभ्यो ह किलार्थाय प्रादुर्बभूव स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव। तत्प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तो देवाः। किमिदं यक्षं पूज्यं महद्भूत-मिति ॥१५॥१२॥

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवोऽग्निमग्रगामिणं जातवेदसं सर्वज्ञकल्प-मब्रुवन्नुक्तवन्तो हे जातवेद! एतदस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व त्वं नस्ते-जस्वी किमेतद्यक्षमिति। तथाऽस्त्विति। तद्यक्षमभ्यद्रवत्तत्प्रतिगतवानग्निः। तं च गतवन्तं पिपृ-च्छिषुं तत्समीपेऽप्रगल्भत्वात्तूष्णींभूतं तद्यक्षमभ्यद्रव(वद)दग्निं प्रत्यभाषत कोऽसीति। एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निरब्रवीदग्निर्वा अग्निनामाऽहं प्रसिद्धो जातवेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतयाऽऽत्मानं श्लाघयन् इत्येवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत्तस्मिन्नेवं प्रसिद्धगुणनामवति

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्य-

ब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥१७॥४॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं

पृथिव्यामिति ॥१८॥५॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न

शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं

यदेतद्यक्षमिति ॥१९॥६॥

(अग्निदेव) उस यक्ष के पास गया। (कुछ पूछने की इच्छा से आये हुए उस) अग्नि से यक्ष ने पूछा—तू कौन है? उसने कहा—मैं अग्नि हूँ, निश्चय ही मैं जातवेदा हूँ ॥४॥

(फिर यक्ष ने पूछा—) उस (जातवेदा रूप) तुझमें क्या सामर्थ्य है? (अग्नि ने कहा—) पृथिवी में यह (स्थावरादि) जो कुछ है, उन सभी को मैं जला सकता हूँ ॥५॥

(तब यक्ष ने) उस अग्नि के लिये तिनका रख दिया (और कहा—) इसे जलाओ। अग्नि उस तिनके के पास गया और अपने सारे वेग से भी उस तिनके को जला न सका, वह उस यक्ष के पास से लौट आया और कहा—मैं इस बात को न जान सका कि यह यक्ष कौन है ॥६॥

त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यमिति । सोऽब्रवीदिदं जगत्सर्वं दहेयं भस्मीकुर्याम्, यदिदं स्थावरादि पृथिव्यामिति । पृथिव्यामित्युपलक्षणार्थं यतोऽन्तरिक्षस्थमपि दह्यते एवाग्निना । तस्मा एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुरोऽग्नेः स्थापितवद्ब्रह्मतत्तृणमात्रं ममाग्रतो दह न चेदस्य दग्धुं समर्थो मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्रेत्युक्तस्तत्तृणमुपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान्सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन गत्वा न शशाक नाशकदग्धुं स जातवेदास्तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञस्तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान्प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान् । नैतद्यक्षमशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतो यदेतद्यक्षमिति ॥१६॥३॥१७॥४॥१८॥५॥१९॥६॥

आप धर्मप्रदेश च वेदशास्त्राऽविरोधिनः । परस्मैपदानां स धर्मो धर्मवेदनेन ।
 जो वेद और धर्मशास्त्रों, वेदशास्त्रों के अनुसार तर्कों के सहारे विचारता है
 वही धर्मको जानता है, दूसरा नहीं जानता ॥ मनुस्मृति: 12-106.

३०

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्ययुता

वायु की परीक्षा (7-11)

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति
 तथेति ॥२०॥७॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्य-
 ब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥२१॥८॥

तस्मिंश्च स्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय
 यदिदं पृथिव्यामिति ॥२२॥९॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन
 तन्न शशाकाऽऽदातुं स तत एव निववृते नैतदशकं
 विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥२३॥१०॥

तत्पश्चात् (उन देवताओं ने) वायु से कहा— हे वायो! इस बात को जानो तो
 सही कि यह यक्ष कौन है? (वायु ने कहा—) अच्छी बात ॥७॥

वायु उस यक्ष के पास गया। यक्ष ने वायु से पूछा —तू कौन है? वायु ने
 कहा— मैं वायु हूँ। निःसन्देह मैं (अन्तरिक्ष में विचरने वाला) मातरिश्वा ही हूँ ॥८॥

(तब यक्ष ने पूछा—) उस (मातरिश्वा रूप) तुझमें क्या सामर्थ्य है? (वायु ने कहा—)
 पृथिवी में जो कुछ है उन सभी को मैं ग्रहण कर सकता हूँ ॥९॥

(तब यक्ष ने) उस वायु के लिये एक तिनका रख दिया (और कहा—) इसे पकड़ो।
 वायु उस तिनके के पास गया, पर अपने सारे वेग से भी वह उस तिनके को ग्रहण
 नहीं कर सका। तब वायु उसके पास से ही लौट आया और कहा— यह यक्ष कौन
 है इसे मैं न जान सका ॥१०॥

अथ वायुमित्यथानन्तरं वायुमब्रुवन्हे वायवेतद्विजानीहीत्यादि समानार्थ पूर्वण । वानाद-
 गमनादगन्धनाद्वायुः । मातर्यन्तरिक्षे मातर्यन्तरिक्षे श्रयतीमातरिश्वा । इदं सर्वमप्याददीय
 गृह्णीयाम् । यदिदं पृथिव्यामित्यादि समानमेव ॥२०॥७॥२१॥८॥२२॥९॥२३॥१०॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति
तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥२४॥११॥

उमा का प्रादुर्भावः

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-

मुमांश्च हैमवतीं तांश्च होवाच किमेतद्यक्ष- विद्या.

मिति ॥२५॥१२॥

"विद्याप्रदायवानीश्वरः"
इति स्मृतम्

इति तृतीयः खण्डः ॥३॥

तत्पश्चात् (देवताओं ने) इन्द्र से कहा— हे मघवन्! यह यक्ष कौन है, इसे जानो तो सही। तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर इन्द्र यक्ष के पास गया; किन्तु वह यक्ष इन्द्र के सामने से तिरोहित हो गया (अर्थात् इन्द्र से बात भी नहीं की) ॥११॥

(जिस आकाश में यक्ष अन्तर्धान हुआ था) उसी आकाश में एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के पास वह इन्द्र आया और स्वर्णाभरण-भूषिता अथवा हिमालयतनया रूप उस उमा से कहा—यह यक्ष कौन है? ॥१२॥

॥ इति तृतीयः खण्डः ॥

अथेन्द्रमिति अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहीत्यादि पूर्ववत्। इन्द्रः परमेश्वरो मघवान्बलवत्त्वात्तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मादिन्द्रादात्मसमीपं गतात्तद्ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतमिन्द्रस्येन्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि नादाद्-ब्रह्मेन्द्राय, तद्यक्षं यस्मिन्नाकाशे आकाशप्रदेश आत्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतमिन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधानकाले 'यस्मिन्नाकाश आसीत्स इन्द्रस्तस्मिन्नेवाऽऽकाशे तस्थौ। किं तद्यक्षमिति ध्यायन्न निववृतेऽग्न्यादिवत्तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्योमारूपिणी प्रादुरभूत्स्त्रीरूपा। स इन्द्रस्तामुमां बहुशोभमानां सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमां विद्यां तदा बहुशोभमानेति विशेषणमुपपन्नं भवति। हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव

अविद्या वृत्ति में अधिष्ठित चैतन्य सौष्ठव आनन्द के कारण,
आयत्त = अधीन = आ + यत् + क्त.

३२

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्ययुता

बहुशोभमानामित्यर्थः। अथवोमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेश्वरेण सह
वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा तामुपजगाम। इन्द्रस्तां होमां किलोवाच पप्रच्छ ब्रूहि
किमेतद्वर्णयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति ॥२४॥११॥२५॥१२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ

केनोपनिषत्पदभाष्ये तृतीयः खण्डः ॥३॥

ॐ जुगवादे, ॐ अनुवादे ॥ २ - आहिकर्म ॥ ॐ भूतार्थवत् कथन/वाच्यदृष्ट परंकरः
अथ श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितं वाक्यभाष्यम्।

ब्रह्म ह देवेभ्य इति ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोक्तिर्यत्नाधिक्यार्था। समाप्ता ब्रह्मविद्या
यदधीनः पुरुषार्थः। अतः ऊर्ध्वमर्थवादेन ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोच्यते। तद्विज्ञाने कथं नु

नाम यत्नमधिकं कुर्यादिति। शमाद्यर्थो वाऽऽप्नायोऽभिमानशातनात्। शमादि वा
ब्रह्मविद्यासाधनं विधित्सितं तदर्थोऽयमर्थवादाम्नायः। न हि शमादिसाधनरहि-

तस्याभिमानरागद्वेषादियुक्तस्य ब्रह्मविज्ञाने सामर्थ्यमस्ति। व्यावृत्तबाह्यमिथ्याप्रत्ययग्रा-
ह्यत्वादब्रह्मणः। यस्माच्चाग्न्यादीनां जयाभिमानं शातयति। ततश्च ब्रह्मविज्ञानं
दर्शयत्यभिमानोपशमे। तस्माच्छमादिसाधनविधानार्थोऽयमर्थवाद इत्यवसीयते, निश्चीयते।

सगुणोपासनार्थो वाऽपोदितत्वात्। नेदं यदिदमुपासत इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणो-
ऽपोदितमपोदितत्वादनुपास्यत्वे प्राप्ते तस्यैव ब्रह्मणः सगुणत्वेनाधिदैवमध्यात्मं चोपासनं

विधातव्यमित्येवमर्थो वेत्यधिदैवतं तद्वनमित्युपासितव्यमिति हि वक्ष्यति। ब्रह्मेति परो
लिङ्गात्। नह्यन्यत्र परादीश्वरान्नित्यसर्वज्ञात्परिभूयाग्न्यादींस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति

तत्र शशाक दग्धुमित्यादिलिङ्गाद्ब्रह्मशब्दवाच्य ईश्वर इत्यवसीयते। नह्यन्यथा-
ऽग्निस्तृणं दग्धुं नोत्सहते वायुर्वाऽऽदातुम्। ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्री भवतीत्युपपद्यते।

तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः। श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिर्नित्यसर्वविज्ञाने ईश्वरे सर्वात्मनि सर्वशक्तौ
सिद्धेऽपि शास्त्रार्थनिश्चयार्थमुच्यते। तस्येश्वरस्य सद्भावसिद्धिः कुतो भवतीत्युच्यते। यदिदं

जगदेवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं द्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रहनक्षत्र-
विचित्रं विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसंबन्धि तदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि

अप्य वद इत संप्रसारण अप्य उक्तिः = अणोक्तिः = निर्दिष्टत्वात्
अनुमानम् :- यस्तर्केण अनुसंधत्ते स धर्मो नेतरः वेद (मनु) ॥२-१०६।

जगत् सकर्तृकं कार्यत्वाद् द्रष्टव्यम्।

विधि शेष = निषेध शेष (1) प्रशंसा (2) निन्दा (3) पराकृत (4) उराकल्प
 (5) परवक्तृक अर्थादि प्रतिपादको. महता पुरेषेण कृतं कर्म.

आयु कर्म विज्ञं विद्या विधन्तेनोपनिषत् तृतीयः खण्डः मेव च.

दुर्निर्माणं देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रममेतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं
 भवितुमर्हति। कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्। गृहप्रासादरथशयनासनादिवद्विपक्षे
 c.p. आत्मादिवत्। कर्मण एवेति चेत्। न, परतन्त्रस्य निमित्तमात्रत्वात्। यदिदमुपभोग-
 वैचित्र्यं प्राणिनां तत्साधनवैचित्र्यं च देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं च
 तत्र नित्यसर्वज्ञकर्तृकम्। किं तर्हि कर्मण एव तस्याचिन्त्यप्रभावत्वात्सर्वैश्च
 फलहेतुत्वाभ्युपगमात्। सति कर्मणः फलहेतुत्वे किमीश्वराधिककल्पनयेति न
 नित्यस्येश्वरस्य नित्यसर्वज्ञशक्तेः फलहेतुत्वं चेति चेत्। न, कर्मण एवोपभोगवैचित्र्या-
 द्युपपद्येत। कस्मात् कर्तृतन्त्रत्वात्कर्मणः। चित्तिमत्प्रयत्ननिवृत्तं हि कर्म तत्प्रयत्नोपरमादुपरतं चेतना
 सद्देशान्तरे कालान्तरे वा नियतनिमित्तविशेषापेक्षं कर्तुः फलं जनयिष्यतीति न
 युक्तमनपेक्ष्यान्यदात्मनः प्रयोक्तृ, कर्तैव फलकाले प्रयोक्तेति चेन्मया निर्वर्तितोऽसि त्वां
 प्रवृत्त प्रयोक्ष्ये फलाय यदात्मानुरूपं फलमिति, न, देशकालनिमित्तविशेषानभिज्ञत्वात्। यदि यथेष्टं
 हि कर्ता देशविशेषाभिज्ञः सन्स्वातन्त्र्येण कर्म नियुज्यात्ततोऽनिष्टफलस्याप्रयोक्ता स्यात्।
 न च निर्निमित्तं तदनिच्छयाऽऽत्मसमवेतं तच्चर्मवद्विकरोति कर्म। नचाऽऽत्म-
 कृतमकर्तृसमवेतमयस्कान्तमणिवदाक्रष्टु भवति प्रधानकर्तृसमवेतत्वात्कर्मणः। भूता-
 श्रयमिति चेन्न, साधनत्वात्। कर्तृक्रियायाः साधनभूतानि भूतानि क्रियाकालेऽनुभूतव्या-
 पाराणि समाप्तौ च हलादिवत्कर्त्रा परित्यक्तानि न फलं कालान्तरे कर्तुमुत्सहन्ते न हि
 हलं क्षेत्राद्व्रीहीन्गृहं प्रवेशयति भूतकर्मणोश्चाचेतनत्वात्स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। वायुवदिति
 चेन्नसिद्धत्वात्। न हि वायोरचितिमतः स्वतः प्रवृत्तिः सिद्धा रथादिष्वदर्शनात्। शास्त्रात्कर्मण
 एवेति चेच्छास्त्रं हि क्रियातः फलसिद्धिमाह नेश्वरादेः स्वर्गकामोयजेतेत्यादि। न च
 प्रमाणाधिगतत्वादानर्थक्यं युक्तम्। न चेश्वरास्तित्वे प्रमाणान्तरमस्तीति चेत्। न
 दृष्टान्यायहानानुपपत्तेः। क्रिया हि द्विविधा दृष्टफलाऽदृष्टफला च। दृष्टफलाऽपि
 द्विविधाऽनन्तरफलाऽऽगामिफला च, अनन्तरफला गतिभुजिलक्षणा। कालान्तरफला च
 उत्पत्तिकाले कृषिसेवादिलक्षणा। तत्रानन्तरफला फूलापवर्गिण्येव, कालान्तरफला तूत्पन्नप्रध्वंसिनी।
 आत्मसेव्याद्यधीनं हि कृषिसेवादेः फलं यतो न चोभयन्यायव्यतिरेकेण स्वतन्त्रं कर्म
 नैयमर्थपत्तिरीयस्ति चे = साध्यज्ञानेन साधकं कल्पनम्, पीनो देवदत्तः
 दिवाऽभुञ्जानः अन्यथानुपपन्न दर्शनश्चात् उपपादके
 साधनकर्ता साध्यज्ञापकः कर्तव्योपादकः बुद्धिः

कर्मफलदेने में ईश्वर और काल आदि का निषेध नहीं किया गया। (सहकारान्तर)

ततो वा फलं दृष्टम्। तथा च कर्मफलप्राप्तौ न दृष्टन्यायहानमुपपद्यते। तस्माच्छान्ते
यागादिकर्मणि नित्यः कर्तृकर्मफलविभागज्ञ ईश्वरः। सेव्यादिवद्यागाद्यनुरूपफलदातोपपद्यते,
स चाऽऽत्मभूतः सर्वस्य सर्वक्रियाफलप्रत्ययसाक्षी नित्यविज्ञानस्वभावः संसारधर्मैरसंस्पृष्टः
श्रुतेश्च। "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" "जरामृत्युमत्येति" "विजरो विमृत्युः"। "सत्यकामः
सत्यसंकल्पः" "एष सर्वेश्वरः" "पुण्यं कर्म कारयति"। "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"। "एतस्य
वा अक्षरस्य प्रशासने" इत्याद्या असंसारिण एकस्याऽऽत्मनो नित्यमुक्तस्य सिद्धौ श्रुतयः,
स्मृतयश्च सहस्रशो विद्यन्ते। न चार्थवादाः शक्यन्ते कल्पयितुम्। अनन्ययोगित्वे सति विज्ञानोत्पाद-
कत्वात्। न चोत्पन्नं विज्ञानं बाध्यते। अप्रतिषेधाच्च। न चेश्वरो नास्तीति निषेधोऽस्ति।
प्राप्त्यभावादिति चेन्नोक्तत्वात्। न हिंस्यादितिवत्प्राप्त्यभावात्प्रतिषेधो नाऽऽरभ्यत इति चेन्न।
ईश्वरसद्भावे न्यायस्योक्तत्वात्। अथवाऽप्रतिषेधादिति कर्मणः फलदाने ईश्वरकालादीनां

न प्रतिषेधोऽस्ति। न च निमित्तान्तरनिरपेक्षं केवलेन कर्त्रैव प्रयुक्तं फलदं दृष्टम्।
न च विनष्टोऽपि यागः कालान्तरे फलदो भवति। सेव्यबुद्धिवत्सेवकेन सर्वज्ञेश्वरबुद्धौ
तु संस्कृतायां यागादिकर्मणा विनष्टेऽपि कर्मणि सेव्यादिवेश्वरात्फलं कर्तुर्भवतीति युक्तम्।
न तु पुनः पदार्था वाक्यशतेनापि देशान्तरे कालान्तरे वा स्वं स्वं स्वभावं जहति
नहि देशकालान्तरेषु चाग्निरनुष्णो भवति। एवं कर्मणोऽपि कालान्तरे फलं द्विप्रकार-
मेवोपलभ्यते। बीजक्षेत्रसंस्कारपरिरक्षाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलं कृष्यादि विज्ञानवत्से-
व्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलं च सेवादि। यागादेः कर्मणस्तथाऽविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलत्वानुपपत्तौ
कालान्तरफलत्वात्कर्मदेशकालनिमित्तविपाकविभागज्ञबुद्धिसंस्कारापेक्षं फलं भवितुमर्हति।
सेवादिकर्मानुरूपफलज्ञसेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलस्येव। तस्मात्सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः
सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभागसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा। यत्साक्षादपरोक्षाद्य आत्मा सर्वान्तर
इति श्रुतेः। स एव चात्राऽऽत्मा जन्तूनां नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता नान्यद-
तोऽस्ति विज्ञात्रित्याद्यात्मान्तरप्रतिषेधश्रुतेस्तत्त्वमसीति चाऽऽत्मत्वोपदेशात्। न हि मृत्पिण्डः
काञ्चनात्मत्वेनोपदिश्यते। ज्ञानशक्तिकर्मोपास्योपासकशुद्धाशुद्धमुक्तामुक्तभेदादात्मभेद
एवेति चेन्न। भेददृष्ट्यपवादात् यदुक्तं संसारिण ईश्वरादनन्या इति। तत्र किं तर्हि भेद

१) शास्त्रमयोगव्यवच्छेदकं वाच्यं ज्ञानयोगव्यवच्छेदकम् ॥ एवकारगतिस्त्रिधा
२) अल्पान्तयोगव्यवच्छेदः ३) अन्ययोगव्यवच्छेदः ४) अप्रयोगव्यवच्छेदः
५) नीलमजम् अवधेयं ६) धर्म एव धनुर्धरः ७) शङ्कः पाण्डुर एव
एवकारगतिस्त्रिधा ॥ ६८८

- (६) अवच्छेदवाद = आभतीकार = अन्तःकरणवर्द्धिन्न जीव,
 (७) अभासवाद = विवर्त = विद्यारण्य - मृद घटः, कटककुण्डल,
 (८) बिम्ब प्रतिबिम्बवाद = पद्मपादाचार्य का परम्परा
 (९) अज्ञातवाद = गौडपादाचार्यनोपनिषत् तृतीयः खण्डः प्रश्न में सब कुछ है।
 (१०) आरम्भवाद = न्याय वैशेषिक / (११) परिणामवाद = सांख्य.

३५

एव संसार्यात्मनाम्। कस्माल्लक्षणभेदादश्वमहिषवत्। कथं लक्षणभेद इत्युच्यते। ईश्वरस्य तावन्नित्यं सर्वविषयं ज्ञानं सवितृप्रकाशवत्। तद्विपरीतं संसारिणां खद्योतस्येव। तथैव शक्तिभेदोऽपि। नित्या सर्वविषया चेश्वरशक्तिर्विपरीतेतरस्य। कर्म च चित्स्वरूपा-जीवस्य त्मसत्तामात्रनिमित्तमीश्वरस्य। औष्ण्यस्वरूपद्रव्यसत्तामात्रनिमित्तदहनकर्मवत्। राजायस्कान्त-प्रकाशकर्मवच्च स्वात्माविक्रियारूपम्। विपरीतमितरस्य। उपासीतेतिवचनादुपास्य ईश्वरो-जीवस्य गुरुराजवत्। उपासकश्चेतरः शिष्यभूयवत्। अपहतपाप्मादिश्रवणान्नित्यशुद्ध ईश्वरः। पुण्यो वै पुण्येनेतिवचनाद्विपरीत। इतरः। अत एव नित्यमुक्त एवेश्वरो नित्याशुद्धियो-गात्संसारितरः। अपिच यत्र ज्ञानादिलक्षणभेदोऽस्ति तत्र भेदो दृष्टः। यथाऽश्वमहिषयोस्तथा ज्ञानादिलक्षणभेदादीश्वरादात्मनां भेदोऽस्तीति चेन्न। कस्मात्। अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद ते क्षय्यलोका भवन्ति। मृत्योः स मृत्युमाप्नोतीति भेददृष्टिर्ह्यपोद्यते। एकत्वप्रतिपादन्यश्च श्रुतयः सहस्रशो विद्यन्ते। यदुक्तं ज्ञानादिलक्षणभेदादित्यत्रोच्यते नानभ्युपगमात्। बुद्ध्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता विलक्षणाश्चेश्वराद्विन्नलक्षणा आत्मानो न सन्ति। एक एवेश्वरश्चाऽऽत्मा सर्वभूतानां नित्यमुक्तोऽभ्युपगम्यते। बाह्यश्चक्षुर्बुद्ध्यादिसमाहारसंतानाहंकारममत्वादिविपरीत-प्रत्ययप्रबन्धाविच्छेदलक्षणो, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तविज्ञानात्मेश्वरगर्भो नित्यविज्ञानाव-भासश्चित्तचैत्यबीजबीजिस्वभावः कल्पितोऽनित्यविज्ञान ईश्वरलक्षणविपरीतोऽभ्युपगम्यते। यस्याविच्छेदे संसारव्यवहारः। विच्छेदे च मोक्षव्यवहारः। अन्यश्च मृत्प्रलेपवत्प्रत्यक्षप्रध्वंसो देवपितृमनुष्यादिलक्षणो भूतविशेषसमाहारो न पुनश्चतुर्थोऽन्यो भिन्नलक्षण ईश्वरादभ्यु-पगम्यते। बुद्ध्यादिकल्पितात्मव्यतिरेकाभिप्रायेण तु लक्षणभेदादित्याश्रयासिद्धो हेतुः। ईश्वरादन्यस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वात्। ईश्वरस्यैव विरुद्धलक्षणत्वमयुक्तमिति चेत्सुखदुःखादियोगश्च। न। निमित्तत्वे सति लोकविपर्ययाध्यारोपणात्सवितृवत्। यथा हि सविता नित्यप्रकाश-रूपत्वाल्लोकाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिनिमित्तत्वे सति लोकदृष्टिविपर्ययेणोदयास्तमयाहो-रात्रादिकर्तृत्वाध्यारोपभागभवत्येवमीश्वरे नित्यविज्ञानशक्तिरूपे लोकज्ञानापोहसुखदुःखस्मृत्या- नाश-दिनिमित्तत्वे सति लोकविपरीतबुद्ध्याऽध्यारोपितं विपरीतलक्षणत्वं सुखदुःखादयश्च न स्वतः।

आत्मदृष्ट्यनुरूपाध्यारोपाच्च। यथा घनादिविप्रकीर्णोऽम्बरे येनैव सवितृप्रकाशो न दृश्यते

जीवः ईश्वराद् विलक्षणः निरुपाधिक भेदभिन्न चैतन्यत्वात्

हेतुरात्राहिकाः बु. गजानरविन्दं सुरभिः अरविन्दवत् सुरो जारविन्दवत्

स आत्मदृष्ट्यनुरूपमेवाध्यस्यति सवितेदानीमिह न प्रकाशयतीतिसत्येव प्रकाशेऽन्यत्र भ्रान्त्या। एवमिह बौद्धादिवृत्त्युद्भवाभिभवाकुलभ्रान्त्याऽध्यारोपितः सुखदुःखादियोगविस्मरण उपपद्यते। तत्स्मरणाच्च। तस्यैवेश्वरस्यैव हि स्मरणम्। "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" जीवा 15-15. "नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापम्" इत्यादि। अतो नित्यमुक्त एकस्मिन्सवितरीव लोकाविद्याध्यारोपितमीश्वरे संसारित्वम्। शास्त्रादिप्रामाण्यादभ्युपगतमसंसारित्वमित्यविरोध इति। एतेन जीवानां प्रत्येकं ज्ञानादिभेदः प्रत्युक्तः। सौक्ष्म्यचैतन्यसर्वगतत्वाद्यविशेषे च भेदहेत्वभावात्। विक्रियावत्त्वे चानित्यत्वात्। मोक्षे च विशेषानभ्युपगमादभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्गात्। अविद्यावदुपलभ्यत्वाच्च भेदस्य तत्क्षयेऽनुपपत्तिरिति सिद्धमेकत्वम्। तस्माच्छरीरे-वेदंन्द्रियमनोबुद्धिविषयदेविनासंतानस्याहंकारसंबन्धादज्ञानबीजस्य नित्यविज्ञानान्यनिमित्त-स्याऽऽत्मतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानाद्विनिवृत्तावज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञा विपर्यये च बन्धसंज्ञा। स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः। ब्रह्म ह, इत्यैतिह्यार्थः। पुरा किल देवासुरसङ्ग्रामे जगत्स्थितिपरिपिपालयिषयाऽऽत्मानुशासनानुवर्तिभ्यो देवेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थाय विजिग्ये-जैषीदसुरान्ब्रह्मण इच्छानिमित्तो विजयो देवानां बभूवेत्यर्थः। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। यज्ञादिलोकस्थित्यपहारिष्वसुरेषु पराजितेषु देवा वृद्धिं पूजां वा प्राप्तवन्तः॥१४॥१॥

त ऐक्षन्तेति मिथ्याप्रत्ययत्वाद्धेयत्वख्यापनार्थमाम्नायः। ईश्वरनिमित्ते विजये ✓ स्वसामर्थ्यनिमित्तोऽस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेत्यात्मनो जयादि-श्रेयोनिमित्तं ✓ सर्वात्मानमात्मस्थं सर्वकल्याणास्पदमीश्वरमेवाऽऽत्मत्वेनाबुद्ध्वा पिण्डमात्राभिमानाः सन्तो ✓ यं मिथ्याप्रत्ययं चक्रुस्तस्य पिण्डमात्रविषयत्वेन मिथ्याप्रत्ययत्वात्सर्वात्मेश्वरयाथा-✓ त्यावबोधेन हातव्यताख्यापनार्थस्तद्वैषामित्याद्याख्यायिकाम्नायः। तद्ब्रह्म ह किलैषां देवातामभिप्रायं मिथ्याहंकाररूपं विजज्ञौ विज्ञातवत्। ज्ञात्वा च मिथ्याभिमानशातनेन तदनुजिघृक्षया तेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय तेषामेवेन्द्रियगोचरे नातिदूरे प्रादुर्बभूव। महेश्वर-शक्तिमायोपात्तेनात्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं किल केनचिद्रूपविशेषेण। तत्किलोपलभमाना अपि देवा न व्यजानत न विज्ञातवन्तः। किमिदं यदेतद्यक्षं पूज्यमिति ॥१५॥१॥

तद्विज्ञानायाग्निमब्रुवन् । तृणनिधानेऽयमभिप्रायोऽत्यन्तसंभावितयोरग्निमारुतयो-
स्तृणदहनादानाशक्त्याऽऽत्मसंभावना शातिता भवेदिति । इन्द्र आदित्यो वज्रभृद्वा ।
अविरोधात् । इन्द्रोपसर्पणे ब्रह्म तिरोदध इत्यत्रायमभिप्रायः—इन्द्रोऽहमित्यधिकतमोऽ
भिमानोऽस्य सोऽहमग्न्यादिभिः प्राप्तं वाक्संभाषणमात्रमप्यनेन न प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानं कथं
न नाम जह्यादिति । तदनुग्रहायैवान्तर्हितं तद्ब्रह्म बभूव ॥१६॥३॥१७॥४॥१८॥५॥
१९॥६॥२०॥७॥२१॥८॥२२॥९॥२३॥१०॥२४॥२१॥

स शान्ताभिमान इन्द्रोऽत्यर्थं ब्रह्म विजिज्ञासुर्यस्मिन्नाकाशे ब्रह्मणः प्रादुर्भावं
आसीत्तिरोधानं च, तस्मिन्नेव स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम । अभिप्रायोद्बोध-
हेतुत्वाद्बुद्धपत्न्युमा हैमवतीव सा शोभमाना विद्यैव, विरूपोऽपि विद्यावान्बहु-
शोभते ॥२५॥१२॥

इति तृतीयः खण्डः ॥३॥

अथ चतुर्थः खण्डः

उमा का उपदेश (1-3)

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये
महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार
ब्रह्मेति ॥२६॥१॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्नि-
र्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्टं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो
विदांचकार ब्रह्मेति ॥२७॥२॥

उस (ब्रह्मविद्या रूप उमा) ने इन्द्र से कहा—यह ब्रह्म है, तुम लोग ब्रह्म के ही विजय में इस प्रकार गौरव को प्राप्त किये हो। तब से इन्द्र ने जाना, यह यक्ष पूजनीय ब्रह्म है (स्वतन्त्र रूप से इन्द्र उसे न जान सका) ॥१॥

क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र इन देवताओं ने ही इस अत्यन्त समीपस्थ ब्रह्म का (संवाद आदि के द्वारा) स्पर्श किया था और उन्होंने ही उसे पहले-पहल जाना कि यह ब्रह्म है, अतः वे अन्य देवताओं की अपेक्षा (ज्ञान-ऐश्वर्यादि में) बढ़-चढ़ कर हुए ॥२॥

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं पदभाष्यम् ॥

सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मण ईश्वरस्यैव विजय ईश्वरेणैव जिता असुरा यूयं तत्र निमित्तमात्रं तस्यैव विजये यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ। एतदिति क्रिया-विशेषणार्थम्। मिथ्याभिमानस्तु युष्माकमयमस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। ततस्तस्मादुमावाक्याद्धैव विदांचकार ब्रह्मेतीन्द्रोऽवधारणात्ततो हैवेति न स्वातन्त्र्येण ॥२६॥१॥

यस्मादग्निवाय्विन्द्रा एते देवा ब्रह्मणः संवाददर्शनादिना सामीप्यमुपगतास्तस्मादैश्वर्य-गुणैरतितरामिव शक्तिगुणादिमहाभाग्यैरन्यान्देवानतितरामतिशयेन शेरत इवैते देवाः। इवशब्दोऽनर्थकोऽवधारणार्थो वा। यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते हि देवा यस्मादेनद्ब्रह्म नेदिष्टमन्तिकतमं प्रियतमं पस्पृशुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्रह्मणः संवादादिप्रकारैस्ते हि यस्माच्च हेतोरेनद्ब्रह्म प्रथमः प्रथमाः प्रधानाः सन्त इत्येतद्विदांचकार विदांचक्रुरित्येतद्ब्रह्मेति ॥२७॥२॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्टं

पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मोति ॥२८॥३॥

ब्रह्म के विषय में आधिदैव आदेश.

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३इतीन्यमी-

मिषदा३इत्यधिदैवतम् ॥२९॥४॥

आ = इव इति : आदेश इति : अनधिकार
इति : समुच्चयार्थः निपातो

(उनमें भी) अन्य देवताओं से बढ़ कर इन्द्र इसीलिये माना गया, क्योंकि उसी ने इस समीपस्थ ब्रह्म का स्पर्श किया था और उसने ही सर्वप्रथम यह ब्रह्म है, इस प्रकार (उमा के वाक्य से) इसे जाना था ॥३॥

उस ब्रह्म का (उपासना सम्बन्धी) यह आदेश है, जो बिजली की चमक के समान एवं पलक मारने के समान प्रकट हुआ, वह उस ब्रह्म का अधिदैवत रूप है ॥४॥

यस्मादग्निवायू अपीन्द्रवाक्यादेव विदांचक्रतुरिन्द्रेण ह्युमावाक्यात्प्रथमं श्रुतं ब्रह्मेत्यत-
शेते स्तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामतिशयेन शेते इवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्टं पस्पर्श यस्मात्स
ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेत्युक्तार्थं वाक्यम् ॥२८॥३॥

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमोपदेशो निरुपमस्य ब्रह्मणो येनोपमानेनो-
पदेशः सोऽयमादेश इत्युच्यते । किं तद्यदेतत्प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद्विद्योतनं
कृतवदित्येतदनुपपन्नमिति । विद्युतो विद्योतनमिति कल्प्यते । आ इत्युपमार्थः ।
विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः । "यथा सकृद्विद्युत्तम्" इति श्रुत्यन्तरे च दर्शनाद्विद्युदिव हि
सकृदात्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः । अथवा विद्युतस्तेज इत्यध्याहार्यम् ।
व्यद्युद्विद्योतितवत्, आ इव । विद्युतस्तेजः सकृद्विद्योतितवदिवेत्यभिप्रायः । इतिशब्द
आदेशप्रतिनिर्देशार्थ इत्ययमादेश इति । इच्छब्दः समुच्चयार्थः । अयं चापरस्तस्याऽऽदेशः ।
कोऽसौ । न्यमीमिषत् । यथा चक्षुर्न्यमीमिषन्निमेषं कृतवत् । स्वार्थे णिच् । उपमार्थ
एवाऽऽकारः । चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः । इत्यधिदैवतं देवताविषयं
ब्रह्मण उपमानदर्शनम् ॥२९॥४॥

ब्रह्म के विषय में अध्यात्म आदेश।
मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करपदभाष्यवाक्यभाष्ययुता

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्म-

रत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥३०॥५॥ बारम्बार.

वन नामक ब्रह्म की उपासना का फल.

वननीयं संभजनीयम् तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं

वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥३१॥६॥

प्रार्थयन्त एव यथा ब्रह्म न सेवन्ते

इसके बाद अब अध्यात्म (उपासना) का आदेश कहते हैं—जो यह मन जाता हुआ-सा कहा जाता है, वह ब्रह्म है, इसी प्रकार उपासना करनी चाहिये क्योंकि इस मन से यह ब्रह्म का स्मरण करता है और बारम्बार संकल्प किया करता है ॥५॥

वह यह ब्रह्म ही वन (वननीय-भजनीय) है, अतः 'वन' इस नाम से उपासना करनी चाहिये। जो उसे इस प्रकार जानता है, उसको सभी भूत अच्छी प्रकार से चाहते हैं ॥६॥

-
- अथानन्तरमध्यात्मं प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते। यदेतद्गच्छतीव च मन एतद्ब्रह्म
- ✓ दौकत इव विषयी करोतीव यथाऽनेन मनसैतद्ब्रह्मोपस्मरति समीपतः स्मरति
 - साधकोऽभीक्षणं भृशं संकल्पश्च मनसो ब्रह्मविषयो मनोपाधिकत्वाद्धि मनसः संकल्पस्मृत्यादिप्रत्ययैरभिव्यज्यते ब्रह्मविषयीक्रियमाणमिव चातः स एष ब्रह्मणोऽध्या-
 - ✓ त्ममादेशो विद्युन्निमेषणवदधिदैवतं द्रुतं प्रकाशनधर्म्यध्यात्मं च मनः प्रत्ययसमकाला-
 - ✓ भिव्यक्तिधर्मीत्येष आदेशः। एवमादिश्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवतीति ब्रह्मण आदेशोऽपि देशः। नहि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं
 - ✓ शक्यम् ॥३०॥५॥

किंच तद्ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्म-
भूतत्वाद्वननीयं संभजनीयमतस्तद्वनं नाम प्रख्यातं ब्रह्म तद्वनमिति यतस्तस्मात्तद्वनमित्यनेनैव गुणाभिधानेनोपासितव्यं चिन्तनीयमिति। अनेन नाम्नोपासकस्य फलमाह-स यः कश्चिदेत-

३५ सं. ६१२.

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त
उपनिषदमब्रूमेति ॥३२॥७॥

हे गुरु जी! मुझे उपनिषद् बतलाओ। (शिष्य के ऐसा कहने पर आचार्य ने कहा—)
हमने तुझे उपनिषद् कह दी। अब हम तेरे लिये ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषद्
बतलायेंगे ॥७॥

द्यथोक्तं ब्रह्मैवं यथोक्तगुणं वेदोपास्तेऽभि हैनमुपासकं सर्वाणि भूतान्यभिसंवाञ्छन्ति
ह प्रार्थयन्त एव यथा ब्रह्म ॥३१॥६॥

एवमनुशिष्टः शिष्य आचार्यमुवाच—

उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन्ब्रूहीत्येवमुक्तवति शिष्ये आहः॥३२॥७॥ उक्ताऽभिहिताते
तवोपनिषत्। का पुनः सेत्याह—ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं तां परमात्मविषयत्वादतीत-
विज्ञानस्य वावैव त उपनिषदमब्रूमेत्युक्तामेव परमात्मविद्यामुपनिषदमब्रूमेत्यवधारयत्युक्त-
रार्थम्। परमात्मविषयामुपनिषदं श्रुतवत् उपनिषदं भो ब्रूहीति पृच्छतः शिष्यस्य कोऽभिप्रायः।
यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतस्ततः पिष्टपेषणवत्पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यादथ ५+३१
सावशेषोक्तोपनिषत्स्यात्ततस्तस्याः फलवचनेनोपसंहारो न युक्तः “प्रेत्यास्माल्लोकादमृता
भवन्ती”ति। तस्मादुक्तोपनिषच्छेष विषयोऽपि प्रश्नोऽनुपपन्न एवानवशेषितत्वात्।
कस्तर्हीभिप्रायः प्रष्टुरित्युच्यते। किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तरापेक्षा। अथ
निरपेक्षैव। सापेक्षा चेदपेक्षितविषयामुपनिषदं ब्रूहि। अथ निरपेक्षा चेदवधारय पिप्पलाद-
वन्नातः परमस्तीत्येवमभिप्रायः। एतदुपपन्नमाचार्यस्यावधारणवचनमुक्ता त उपनिषदिति।
ननु नावधारणमिदं, यतोऽन्यद्वक्तव्यमित्याह तस्यै तपो दम इत्यादि? सत्यं वक्तव्य-
मुच्यत आचार्येण नतूक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तराभिप्रायेण वा।
किन्तु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण वेदैस्तदङ्गैश्च सह पाठेन समीकरणान्तपः
प्रभृतीनाम्। न हि वेदानां शिक्षाद्यङ्गानां च साक्षाद्ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारि-
साधनत्वं वा सहपठितानामपि यथायोग्यं विभज्य विनियोगः स्यादिति चेद्यथा

ब्रह्म विद्या के साधन

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा उपशमः । अग्निहोत्रादि; आश्रयः

वेदाः सर्वाङ्गानि (णि!) सत्यमायतनम् ॥३३॥८॥

⊕ "न येन जिह्ममनसो न माया च" इति श्रुतेः

प्राप्ति के साधन

तप, दम कर्म, वेद और सम्पूर्ण वेदान्त ये सब उस (ब्राह्मी उपनिषद् का आश्रय है, प्राप्ति के साधन हैं) एवं सत्य भाषण उसका आयतन (निवास) है ॥८॥

सूक्तवाकानुमन्त्रणमन्त्राणां यथादेवतं विभागस्तथा तपोदमकर्मसत्यादीनां ब्रह्मविद्या-
शेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वेति कल्प्यते । वेदानां तदङ्गानां चार्थप्रकाशकत्वेन कर्मात्म-
ज्ञानोपायत्वमित्येवं ह्ययं विभागो युज्यतेऽर्थसंबन्धोपपत्तिसामर्थ्यादिति चेत् ।
नायुक्तेः । न ह्ययं विभागो घटनां प्राञ्चति । न हि सर्वक्रियाकारकफलभेदबुद्धि-
तिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा सहकारिसाधनसंबन्धो वा युज्यते । सर्वविषय-
व्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्यायास्तत्फलस्य च निःश्रेयसस्य,

“मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम् ।

त्यजतैव हितज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्” ॥

तस्मात्कर्मणां सहकारित्वं कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्योपपद्यते । ततोऽसदेव
सूक्तवाकानुमन्त्रणवद्यथायोगं विभाग इति । तस्मादवधारणार्थतैव प्रश्नप्रतिवचनस्योपपद्यते ।
एतावत्येवैयमुपनिषदुक्ताऽन्यनिरपेक्षाऽमृतत्वाय ॥३२॥७॥

यामिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रेऽब्रूमेति, तस्यै तस्या उक्ताया उपनिषदः प्राप्त्युपायभूतानि
✓ तपआदीनि । तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम् । दम उपशमः । कर्माग्निहोत्रादि ।
एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्ते-
ऽपि ब्रह्माण्यप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम् । तस्मादिह वाऽतीतेषु
✓ वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपआदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेर्ज्ञानं समुत्पद्यते यथाश्रुतम् ।

“यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः” ॥

इतिमन्त्रवर्णात् । “ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः” इति स्मृतेः । इतिशब्द
✓ उपलक्षणप्रदर्शनार्थः । इत्येवमाद्यन्यदपि ज्ञानोत्पत्तेरुपकारकममानित्वमदम्भित्वमित्या-

④ चै. मोहि कयह छेल छिद्र न भावा ।
निर्मल मन जन सो मोहि पावा ॥

दा. सब सिसु एहि मिस प्रेमबस केनोपनिषत् चतुर्थः खण्डः परसि मनो हर जात । स्पर्श.
वन पुलकहि अति हरषु हिम दखि दखि देउ भावा. ॥२२५॥ बाबू काण्ड.
यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके

ज्यायसि सर्वमदन्ते
आत्मनि मुखा

ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥३४॥१॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥४॥ तदेव ब्रह्म प्रणिपद्यते ॥

जो कोई निश्चयपूर्वक इस उपनिषद् को इस प्रकार जानता है वह पाप का ध्वंस कर
अनन्त एवं महान् स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होता है, फिर वह संसार में जन्म नहीं लेता
है ॥१॥

॥ चतुर्थः खण्ड इति केनोपनिषद् समाप्ता ॥

इस प्रकार केनोपनिषद् की श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक
श्री कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि
विरचित मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

। श्रीशङ्करः प्रीयताम् ।

द्युपदर्शितं भवति । प्रतिष्ठा पादौ पादाविवास्यास्तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या
प्रवर्तते पदभ्यामिव पुरुषः । वेदाश्चत्वारः सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट्कर्मज्ञानप्रकाश-
कत्वाद्देवानां तद्रक्षणार्थत्वादङ्गानां प्रतिष्ठात्वम् । अथवा प्रतिष्ठाशब्दस्य पादरूपकल्पनार्थ-
त्वाद्देवास्त्वितराणि सर्वाङ्गानि (णि?) शिरादीनि । अस्मिन्यक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेनैव
ग्रहणं कृतं प्रत्येतव्यम् । अङ्गिनि गृहीतेऽङ्गानि गृहीतान्येव भवन्ति । तदायतनत्वादङ्गानाम् ।
सत्यमायतनं यत्र तिष्ठत्युपनिषत्तदायतनं सत्यमिति । अमायिताऽकौटिल्यं वाङ्मनः-
कायानां तेषु ह्याश्रयति विद्या येऽमायाविनः साधवः । नासुरप्रकृतिषु मायाविषु । "न
येषु जिह्यमनृतं न माया च" इति श्रुतेः । तस्मात्सत्यमायतनमिति कल्प्यते । तपआदिष्वेव
प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम् ।

④ "अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।

अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते" इति स्मृतेः ॥३३॥६॥

यो वा एतां ब्रह्मविद्यां केनेषितमित्यादिना यथोक्तामेवं महाभागां ब्रह्म

सह ना० आप्यायन्तु०। इति सामवेदीय-
तलवकारोपनिषत्समाप्ता।

ह देवेभ्य इत्यादिस्तुतां सर्वविद्याप्रतिष्ठां वेदामृतत्वं हि विन्दत इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलमन्ते
निगमयते—अपहत्य पाप्मानमविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजं विधूयानन्तेऽपर्यन्ते।
स्वर्गे लोके सुखात्मके ब्रह्मणीत्येतत्। अनन्ते इति विशेषणान्न त्रिविष्टपे। अनन्तशब्द
✓ औपचारिकोऽपि स्यादित्यत आह—ज्येय इति। ज्येये ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि मुख्ये
एव प्रतितिष्ठति। न पुनः संसारमापद्यते इत्यभिप्रायः ॥३४॥१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ

केनोपनिषत्पदभाष्ये चतुर्थः खण्डः ॥४॥

समाप्तमिदं श्रीमच्छंकराचार्यविरचितं तलवकारोपनिषदपर-

पर्यायकेनोपनिषत्पदभाष्यम्।

अथ श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितं वाक्यभाष्यम्।

तां च पृष्ट्वा तस्या एव वचनाद्विदांचकार विदितवान्। अत इन्द्रस्य बोधहेतु-
त्वाद्विद्यैवोमा। "विद्यासहायवानीश्वर" इति स्मृतिः। यस्मादिन्द्रविज्ञानपूर्वकमग्निवाख्विन्द्रास्ते
ह्येनन्तेदिष्ठमतिसमीपं ब्रह्मविद्यया ब्रह्म प्राप्ताः सन्त पस्पृशुः स्पृष्टवन्तः। ते हि प्रथमः प्रथमं
विदांचकार विदांचक्रुरित्येतत्। तस्मादतितरामतीत्यान्यानतिशयेन दीप्यन्तेऽन्यान्देवां-
स्ततोऽपीन्द्रोऽतितरां दीप्यते॥ आदौ ब्रह्मविज्ञानात् ॥२६॥१॥२७॥२॥२८॥३॥

तस्यैष आदेशस्तस्य ब्रह्मण एष वक्ष्यमाण आदेश उपासनोपदेश इत्यर्थः।
यस्माद्देवेभ्यो विद्युदिव सहसैव प्रादुर्भूतं ब्रह्म द्युतिमत्तस्माद्विद्युतो विद्योतनं यथा
यदेतद्ब्रह्म व्यद्युतद्विद्योतितवत्। आ इवेत्युपमार्थः आशब्दः। यथा घनान्धकारं विदार्य
✓ विद्युत्सर्वतः प्रकाशते एवं तद्ब्रह्म देवानां पुरतः सर्वतः प्रकाशवद्व्यक्तीभूतमतो
व्यद्युतदिवेत्युपास्यम्। यथा सकृद्विद्युत्तमिति च वाजसनेयके। यस्माच्चन्द्रोपसर्पणकाले

न्यमीमिषत्। यथा कश्चिच्चक्षुर्निमेषणं कृतवानिति। इतीदित्यनर्थकौ निपातौ। निमिषि-
तवदिव तिरोभूतमित्येवमधिदैवतं देवताया अधि यद्दर्शनमधिदैवतं तत् ॥२९॥४॥

अथानन्तरमध्यात्ममात्मनोऽध्यात्मविषयमध्यात्ममुच्यत इति वाक्यशेषः।
यदेतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म गच्छतीव प्राप्नोतीव विषयी करोतीवेत्यर्थः। न पुनर्विषयी
करोति मनसोऽविषयत्वाद्ब्रह्मणोऽतो मनो न गच्छति। "येनाऽऽहुर्मनो मतमिति हि
चोक्तम्। गच्छतीवेति तु मनसोऽपि मनस्वात्। आत्मभूतत्वाच्च ब्रह्मणस्तत्समीपे मनो वर्तत
इत्युपस्मरत्यनेन मनसैवैतद्ब्रह्म विद्वान्यस्मात्तस्माद्ब्रह्म गच्छतीवेत्युच्यते। अभीक्षणं
पुनः पुनश्च। संकल्पो ब्रह्मप्रेषितस्य मनसः। अत उपस्मरणसंकल्पादिभिर्लिङ्गैर्ब्रह्म
मनोऽध्यात्मभूतमुष्मास्यमित्यभिप्रायः ॥३०॥५॥

तस्य चाध्यात्ममुपासने गुणो विधीयते तद्ध तद्वनं तदेतद्ब्रह्म तच्च तद्वनं च तत्परोक्षं
वनं संभजनीयम्। वनतेस्तत्कर्मणस्तस्मात्तद्वनं नाम। ब्रह्मणो गौणं हीदं नाम। तस्मादनेन
गुणेन तद्वनमित्युपासितव्यम्। स यः कश्चिदेतद्यथोक्तमेवं यथोक्तेन गुणेन तद्वनमित्यनेन
नाम्नाऽभिधेयं ब्रह्म वेदोपास्ते। तस्यैतत्फलमुच्यते। सर्वाणि भूतान्येनमुपासकमभि-
संवाञ्छन्तीहाभिसंभजन्ते सेवन्ते स्मेत्यर्थः। यथागुणोपासनं हि फलम् ॥३१॥६॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्तायामप्युपनिषदि शिष्येणोक्त आचार्य आह—उक्ता
कथिता ते तुभ्यमुपनिषदात्मोपासनं च। अधुना ब्राह्मीं वाव ते तुभ्यं ब्रह्मणो ब्राह्मण-
जातेरुपनिषदमब्रूम वक्ष्याम इत्यर्थः। वक्ष्यति हि। ब्राह्मी नोक्ता। उक्ता त्वात्मोपनिषत्।
तस्मान्न भूताभिप्रायोऽब्रूमेत्ययं शब्दः ॥३२॥७॥

तस्यै तस्या वक्ष्यमाणाया उपनिषदस्तपो ब्रह्मचर्यादि दम उपशमः कर्माग्निहोत्रा-
दीत्येतानि प्रतिष्ठाऽऽश्रयः। एतेषु हि सत्सु ब्राह्म्युपनिषत्प्रतिष्ठिता भवति। वेदाश्चत्वा- रोऽङ्गानि अङ्गानि
च सर्वाणि। प्रतिष्ठेत्यनुवर्तते। ब्रह्माश्रया हि विद्या। सत्यं यथाभूतवचनमपीडाकरमायतनं
निवासः सत्यवत्सु हि सर्वं यथोक्तमायतनं इवावस्थितम् ॥३३॥८॥

तामेतां तपआद्यङ्गां तत्प्रतिष्ठां ब्राह्मीमुपनिषदं सायतनामात्मज्ञानहेतुभूतामेवं
यथावद्यो वेदानुवर्ततेऽनुतिष्ठति, तस्यैतत्फलमाह—अपहत्य पाप्मानम्। अपक्षय्य
(क्षीय) धर्माधर्मावित्यर्थः। अनन्तेऽपारेऽविद्यमानान्ते। स्वर्गे लोके सुखप्राये निर्दुःखा-
त्मनि परे ब्रह्मणि। ज्येये महति सर्वमहत्तरे प्रतितिष्ठति सर्ववेदान्तवेद्यं ब्रह्माऽऽत्मत्वेनावगम्य
तदेव ब्रह्म प्रतिपद्यते इत्यर्थः ॥३४॥१॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पादपूज्यशिष्य-

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

तलवकारोपनिषदपरपर्यायकेनोपनिषद्भाष्ये 'क्षुद्र-

गणवाक्यविवरणं समाप्तम्।

कोषनिषद्.

॥३-आह्निकम्॥

- उपक्रम सामान्य ॥ १ ॥ पेधं ज्ञेते विनिकित्सा मनुष्ये १-२०.
॥ विशेष ॥ ॥ १ ॥ अन्धत्र धर्मदन्धत्राव्यमीद् अन्धत्रास्मात् कृताकृतान् २-१५.
उपसंहारः ॥ १ ॥ अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोन्तरात्मा. ६-१७.
अज्ञासः ॥ १ ॥ न ज्ञायते मित्रते वा विपश्चित्. २-१८.
॥ १ ॥ अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेषु अवस्थितम् २-२२. ॥ १५ ॥
॥ १ ॥ निष्प्रोऽनिष्प्रानां चैतनश्चेतनानां एका बहूनां मा विदधाति कामान्
॥ १ ॥ अस्तीत्यैव उपलब्धव्यः ६-१३.
पूर्ववताः ॥ १ ॥ नैव वाच्या न मनसा प्राप्नु रक्थो न भक्षुषा ६-१२.
॥ १ ॥ अशब्दमस्पर्श ३-१५.
तत्तः ॥ १ ॥ ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूत विमृष्टपुरन्धो अत्येवं मोविदध्या-
-त्ममेव ६-१६.
॥ १ ॥ समोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा. २-१३.
रूपेवाद् ॥ १ ॥ यस्य ब्रह्म न क्षत्रं न उर्मि अवत ओदन. २-१५.
॥ १ ॥ मृष्टो समृष्ट मात्नोति य इह नानेव पश्यति. ५-११.
पदनिः ॥ १ ॥ अक्षिपथैका भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव. ५-१.
॥ १ ॥ वायुः ५-१० ॥ मृष्टः ५-११.
॥ १ ॥ येन रूपं रसं गन्धः. ५-३.

कठ मुनि, वैशम्पायन का शिष्य
पर्युवेद की कठ शाखा का पूर्वतक.

कृष्ण पर्युवेद, कठशाखा
"कठचरकात् मुक्" कठ ७१ काठ
वैकल्पिक मुक्. तत्र भव. प्रत्यय जो हुस

विषय: परब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम्

प्रयोगन: संसार निवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिः तत्सद्ब्रह्मणेनमः।

सम्बन्ध:

अधिकारी: ब्रह्मप्राप्तिका इच्छुक.

वितृष्णा: मुमुक्षु

काठकोपनिषत्

भगवदत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशङ्करभाष्यसमेता

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

भाव:- वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य एवं वक्ता और श्रोता) दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें, हम दोनों साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों का अधीत (ज्ञान) तेजस्वी हो और हम (कभी भी परस्पर) द्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

(अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं भाष्यम्)



ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च।

अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते। सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिषदस्य विवृण्वत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। केन पुनरर्थयोगेनोपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्विसर्जनाद्विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति— "निचाय्यु तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (क० उ० १/३/१५) इति।

पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषत्। तथा च वक्ष्यति— "ब्रह्म प्राप्नो विरजोऽभूद्विमृत्युः" (क० उ० २/३/१८) इति। लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याऽप्युपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति— "स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" (क० उ० १/१/१३) इत्यादि।

ननूपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति। उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च। एवं नैष दोषोऽविद्या दिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसंभवाद्विद्यायां च सम्भवात्। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः। "आयुर्वै घृतम्"

असंभावनादि निरस्यन्ती, निवरीतभावना - मनन, निदिध्यासन से इर होता है।

अनधीतवेदान् द्विजोऽयज कुरुते अम आशु गच्छति श्रु द्रवम् यन्वपः

वशः कान्तो उशनः
कामयमानः
विश्वजित् यज्ञः

अथ प्रथमाध्याये प्रथमवल्ली

ॐ उशनः वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। कीर्ति ^{अत्र नचिकेता आश्रमान का उपक्रम आख्यायिका विद्यास्तुत्यर्थी}

तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

तथं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु

पितुर्हितकामबुद्धि → अस्तिक्य बुद्धिः ^{श्रद्धाऽऽविवेश} सोऽमन्यत ॥ २ ॥

यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि विश्वजित् यज्ञ के फल को चाहते हुए वाजश्रवा के पुत्र ने (विश्वजित् यज्ञ में) अपना सम्पूर्ण धन दे दिया। उस (यजमान) का नचिकेता नामक एक पुत्र था ॥ १ ॥ अवानी शंकरों वन्दे श्रद्धाविष्ठासु (पितृ) = दोनों की एकता

जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणा के लिए गौएँ विभागपूर्वक) ले जायी जा रही थीं, उसी समय कुमार अवस्था वाला होते हुए भी नचिकेता में श्रद्धा (अपने पिता के हित के लिए आस्तिक्य बुद्धि) प्रविष्ट हो गयी। तब वह नचिकेता सोचने लगा ॥ २ ॥

(तै० सं० २/३/११) इत्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे
✓ तु भक्त्येति। एवमुपनिषच्छब्दनिर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः। विषयश्च
✓ विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम्। प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी
✓ संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा। सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः। अतोयथोक्ताधिकारि-
विषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत्प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारि-
विषयप्रयोजनसम्बन्धा एता वल्लयो भवन्तीति।

अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे—

तत्राऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था। उशनः कामयमानो ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थो निपातौ,
वाजमनं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल
विश्वजिता। सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः। स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान्। धन-
तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलाऽऽस बभूव ॥ १ ॥

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तप्रजननशक्तिं बालमेव श्रद्धाऽऽस्तिक्य-
बुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताऽऽविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन्काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः
सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्ट-
श्रद्धो नचिकेता अमन्यताऽऽलोचितवान् ॥ २ ॥

* पिता और गुरु के गुरु से जो शब्द निकलें सावधानी से या असावधानी से शिष्य का पुत्र को पालन करना ही है। माता पिता गुरु प्रभु के वानी। विरम विचार करहु सुख जानी ॥ कुन्ती - द्रौपदी - फल बाटना. केकेयी - दशरथ - रामवनवास.

अर्द्ध = दोनों हाथों के लिये चल. काठकोपनिषत् प्रथमाध्याय प्रथमवल्ली
पादों " वैश्वेदेव नचिकेता का वनन प्रकार.
आचमन मुख दुर्द्धः समृद्धौ

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः। अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥३॥ असुखा नामान्

पिता पुत्र संवाद स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। पितुरनिष्टं पुत्रा निवारनीया. कुमार स्वभावं द्वितीयं तृतीयं तथं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

गच्छामि. बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।

जो जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें बच्चा देने का सामर्थ्य नहीं रहा है; ऐसी गौओं का दान करने में वह दाता उन लोकों में जाता है, जो लोक आनन्द से सर्वथा शून्य हैं ॥३॥

तब उसने अपने पिता से कहा— हे तात! आप मुझे (किस ऋत्विज् विशेष) को दक्षिणार्थ दोगे? इसी प्रकार उसने दूसरी और तीसरी बार भी कहा। तब क्रुद्ध होकर पिता ने उससे कहा— मैं तुझे मृत्यु को दूंगा ॥४॥

(नचिकेता एकान्त में विचार करने लगा कि) मैं बहुत से (शिष्यों या पुत्रों) में प्रथम

कथमित्युच्यते — पीतोदका इत्यादिना। दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते। पीतमुदकं याभिस्ता पीतोदकाः। जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः। दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः। निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः। यास्ता एवंभूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्नन्दा अनानन्दा असुखा नामान इत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति ॥३॥

अपूर्णता कृतसंपत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरमुपगम्य स होवाच पितरं 'हे तत तात, कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि?' इति प्रयच्छसीत्येतत्। एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति। नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥४॥

देव + पित्र + आस एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्जकार। कथमित्युच्यते। बहूनां शिष्याणां

पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः। मध्यमानां च बहूनां मध्यमो

* अपायन्तान्वाङ्मय, येऽन्वि, एषु णेरयादेशः

आम्, अन्त, आम्, आम्, इत्, २८७८ ॥३॥

किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥५॥

पितरं शोकाविष्टं आह ।

क्रोधवशात् उक्तवान्

अनुपश्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तथाऽपरे ।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः ॥६॥

लोक के निचे परलोक न बिगाडे, स्वशरीर स्वर्ग गये - others आनिवटिके शरीर से.

वृत्ति से चलता हूँ और बहुतों में मध्यम वृत्ति से चलता हूँ (अधम वृत्ति से कभी नहीं चलता, फिर भला) यम का कौन ऐसा कार्य है, जिसे आज पिता मेरे द्वारा सम्पन्न करना चाहते हैं ॥५॥

जिस प्रकार पूर्व पुरुष (पितृ-पितामहादि) व्यवहार कर चुके हैं, उसे देखें। (उनमें से मृषाकरण किसी का नहीं रहा है क्योंकि) मनुष्य खेती की भाँति पकता है अर्थात् वृद्ध होकर मर जाता है और फिर खेती की भाँति ही उत्पन्न होता है। (ऐसे अनित्य जीव लोक में असद् व्यवहार से क्या लाभ? अतः मुझे यम के पास भेज कर अपने सत्य का पालन करें) ॥६॥

मध्यमयैव वृत्तैमि। नाधमया कदाचिदपि। तमेवंविशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा
ददामीत्युक्तवान्पिता। स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया पूत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य।
नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान्पिता। तथाऽपि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा
परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥५॥

देखो

अनुपश्याऽऽलोचय निभालयानुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वेऽतिक्रान्ताः
पितृपितामहादयस्तव। तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि वर्तमानाश्चापरे साधवो
यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्याऽऽलोचय तथा। न च तेषु मृषा करणं वृत्तं वर्तमानं वाऽस्ति।
✓ तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषाकरणम्। न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति। यतः
सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते। मृत्वा च सस्यमिवाऽऽजायत आविर्भवति
✓ पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन। पालयाऽऽत्मनः सत्यम्। प्रेषय मां
यमायेत्यभिप्रायः ॥६॥

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदाणां चानुपालनम् । आतिथ्यं वेद्यं देवस्य इष्टमिष्टमभिधीयते ॥
 * उचित कि अनुचित किये विचार । धर्म पाप और पातक अगर ॥

काठकोपनिषत् प्रथमाध्याय प्रथमवल्ली
 वेरदान क्रम : 6 to learnt . पितृभ्यः स्वधा ५
 यमलोके नचिकेता

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
 तस्यैताथंशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥
 ज्ञात अज्ञात ① आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्र-यागजं फलं
 विनाशयति पशूश्च सर्वान् । एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
 यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥ वापि कूप तडागादि देवतायतनानि
 यम राज से नचिकेता को वेर चे अन्न प्रदानारामः पूर्व मित्यभिधीयते
 तिस्रो रात्रीर्यद्वात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथि-

ब्राह्मण अतिथि बनकर अग्नि ही भवन में प्रवेश करता है । (इसीलिये साधु पुरुष) उस अतिथि को यह (अर्घ्य-पाद्य प्रदान रूप) शान्ति किया करते हैं । अतः हे वैवस्वत ! (इस ब्राह्मण अतिथि नचिकेता के लिये) जल ले आओ ॥७॥

जिसके घर में ब्राह्मण (अतिथि) भोजन किये बिना ही निवास करता है, उस मन्दबुद्धि पुरुष को ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छाओं, इनके सम्बन्ध से होने वाले फल, (अग्निहोत्रादि) इष्ट और (वापी-कूप-तडागादि निर्माणरूप) पूर्त कर्मों के फल, समस्त पुत्र तथा पशु आदि को यह नष्ट कर देता है । (अतः सभी अवस्थाओं में अतिथि सत्कार के योग्य है) ॥८॥ ① अज्ञात - अज्ञात धोबी के तडकी से साड़ी

हे ब्रह्मन् ! तुझे नमस्कार हो, मेरा कल्याण होवे (पूर्व मन्त्रोक्त अनिष्ट न हो) । तुम

उषःगतैः स एवमुक्तः पिताऽऽत्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यमभुवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवा-
 स यमे प्रोषिते । प्रोष्याऽऽगतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधून्तो वैश्वानरोऽग्निरेव
 साक्षात्प्रविश्यत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां
 पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराऽऽहर हे वैवस्वतोदकं
 नचिकेतसे पाद्यार्थम् । यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥७॥ शिष्टचारवगतं अशुद्धपदं तुल्यं
 समुच्चयार्थकः चकारः

आशाप्रतीक्षे अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थनाऽऽशा, निर्ज्ञातप्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते
 आशाप्रतीक्षे । संगतं सत्संयोगजं फलं सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्त्रिमित्तं च । इष्टापूर्ते
 इष्टं यागादिजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम् । पुत्रपशूश्च पुत्रांश्च पशूश्च सर्वानेतत्सर्वं यथोक्तं
 वृङ्क्ते आवर्जयति विनाशयतीत्येतत् । पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य । यस्यानश्नन्नभुञ्जानो
 ब्राह्मणो गृहे वसति । तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्वप्यतिथिरित्यर्थः ॥८॥

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम्-तिस्रो रात्रीर्यद्यस्माद-

वात्सीरुषितवानसि गृहे मे ममानश्नन्हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते
 * देवता ध्यान उपासनादि अन्य फल - सत्संयोगजं

नमस्यः । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु

तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ १॥ नचिकेता का पितृ संतोष रूप प्रथम वर

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो विग्न रोषः

माऽभि मृत्यो । त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत्प्रतीत

एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

न प्रेतमिव यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणि- द्रापुष्पाश्रयः
र्मत्प्रसृष्टः । सुखथंरात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां
ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

नमस्कर योग्य अतिथि होते हुए भी मेरे घर पर तीन रात्रि भोजन किये बिना रहे। अतः एक-
एक रात्रि अनशन के बदले में मुझसे (एक-एक वरदान अर्थात्) तीन वरदान माँग लो ॥ १॥

हे मृत्यु! (मेरे पिता) गौतम (वाजश्रवस) मेरे प्रति जैसे शान्त सङ्कल्प, प्रसन्नचित्त और
क्रोधरहित हों तथा तुम्हारे लौटा देने पर मुझे (पूर्ववत्) पहिचान कर वार्तालाप करें; यही (आपके
दिये हुए) तीन वरों में से पहला वर मैं माँगता हूँ ॥ १० ॥

मुझसे प्रेरित हुआ अरुण पुत्र उद्दालक तुझे पूर्ववत् पहिचान कर (प्रेम करेगा) और (शेष
जीवन की) रात्रियों में सुख पूर्वक सोएगा, क्योंकि मृत्यु के मुख से छूटा हुआ तुझे देखेगा ॥ ११ ॥

तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन्स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मदगृहवासनिमित्ता-
द्वोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन । यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथाऽपि त्वदधिक-
प्रसादनार्थमनशनेनोषितामेकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्वभिप्रेतार्थविशेषान्प्रार्थयस्व
मत्तः ॥ १॥

✓ नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वराभगवश्शान्तसङ्कल्प उपशान्तः सङ्कल्पो यस्य मां प्रति
यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमानुः प्रसन्नमनाश्च यथा
स्याद्वीतमन्युर्विग्नरोषश्च गौतमो मम पिता माऽभि मां प्रति हे मृत्यो । किंच त्वत्प्रसृष्टं
त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मा मामभिवदेत्प्रतीतो लब्धस्मृतिः स एवायं पुत्रो ममाऽऽगत
इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः । एतत्प्रयोजनं त्रयाणां वराणां प्रथममाद्यं वरं वृणे
प्रार्थये यत्पितुः परितोषणम् ॥ १० ॥

✓ ततो मृत्युरुवाच—यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात्पूर्वमासीत्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता
प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतः प्रतीतवान्सन् औद्दालकिः । उद्दालक एवौद्दालकिः ।

स्वर्ग स्वरूप वर्णन

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न

नौकरी जैसे.

जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे देवा न खादन्ति... अमृतं

शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥ अशान्मृद 7.3.34 न इत्वं

स्वर्ग के साधन अग्नि विद्या द्वितीय वर अशानाय "अकृतसर्वधातुकयोः"

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तथं श्रद्धधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं श्रद्धा शान्च भजन्त एतद्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥ देवत्वं श्रद्धधानाय.

प्र ते ब्रूवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं यवहिताय.

हे मृत्यु! स्वर्गलोक में (रोगादि निमित्तक) कुछ भी भय नहीं है। वहाँ पर आपका भी वश नहीं चलता। न कोई वहाँ पर वृद्धावस्था से ही डरता है बल्कि स्वर्गलोक में पुरुष क्षुधा एवं पिपासा दोनों को पार करके शोक से ऊपर उठ जाता है और आनन्दित होता है ॥१२॥

हे मृत्यु! (पूर्वोक्त गुणविशिष्ट) स्वर्ग के साधन भूत अग्नि को आप जानते हैं, उसे मुझ श्रद्धालु को बतलावें (जिसके द्वारा) स्वर्ग को प्राप्त हुए पुरुष अमरत्व (देवत्व) को प्राप्त करते हैं। बस! मैं द्वितीय वर से यही माँगता हूँ ॥१३॥

हे नचिकेता! उस स्वर्ग देने वाले अग्नि को अच्छी प्रकार जानता हुआ मैं तेरे लिए उसे

अरुणस्यापत्यमारुणिद्व्यामुध्यायणो वा मत्प्रसृष्टो मयाऽनुज्ञातः सन्नितरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्ट-वान्सन्मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात्प्रमुक्तं सन्तम् ॥११॥

नचिकेता उवाच—स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किञ्चिदपि नास्ति। न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कश्चित्तत्र। किञ्चोभे अशनायापिपासे तीर्त्वाऽतिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्मानसेन दुःखेन चूर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥१२॥ बाह्य निमित्तं दुःखं शब्दोपम.

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स्वर्ग्यं स त्वं मृत्युरध्येषि स्मरसि जानासीत्यर्थः। हे मृत्यो, यतस्तं प्रब्रूहि कथय श्रद्धधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने। येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोका यजमाना अमृतत्वममरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥१३॥

मृत्योः प्रतिज्ञेयम्। प्र ते तुभ्यं प्रब्रूवीमि। यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्वि-

सर्वलोकफल नचिकेतः प्रजानन् । अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां ^{अग्नि वायु आदिव्य-}
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥ ^{(विदुषां) बुद्धौ उपासकानां} ^{विराड रूपेण जगतः - प्रतिष्ठाः}

श्रुतेर्वचनं इदम् लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका
यावतीर्वा यथा वा । स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाऽऽह तुष्टः ॥१५॥ *Extra Chaw 3 books.*

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य- ^{महात्मा अशुद्ध बुद्धि.}
Earth - Sea - Air - Sky -> Vishnu - Devotee Nareda - Story.
कहता हूँ । तू उस अग्नि विज्ञान को मुझसे अच्छी प्रकार समझ ले । इसे तू अनन्त लोकों की
प्राप्ति का साधन, उसका आधार और बुद्धिरूपी गुफा में उसे स्थित जान ॥१४॥

तदनन्तर यमराज ने लोकों के आदिकारणरूप उस अग्निविद्या को नचिकेता के लिए कह
दिया । उस अग्नि के चयन में जैसी और जितनी ईंटें होती हैं एवं जिस प्रकार उसका चयन
किया जाता है, उसका भी वर्णन नचिकेता के प्रति कर दिया और उस नचिकेता ने भी जैसे
के तैसे उस अग्निविद्या को सुना दिया । इससे प्रसन्न होकर मृत्यु ने फिर कहा ॥१५॥

महात्मा (यमराज) ने प्रसन्न होकर उस नचिकेता से कहा— अब मैं तुझे एक वरदान

ज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः । प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम् । अधुनाऽग्नि-
स्तौति । अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनमित्येतत् । अथो अपि प्रतिष्ठामाश्रयं जगतो
विराड्रूपेण तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ ^{उपासक}
निविष्टमित्यर्थः ॥१४॥

इदं श्रुतेर्वचनम् । लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा
प्रार्थितमुवाचोक्तवान्मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे । किंच या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण । यावतीर्वा ^{यत्तु वस्तु}
संख्यया । यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतदुक्तवानित्यर्थः । स चापि नचिकेता-
स्तन्मृत्युनोक्तं यथावत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान् । अथास्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः
पुनरेवाऽऽह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ॥१५॥

कथं ? तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभ-
वन्महात्माऽक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि ।
तवैव नचिकेतसो नाम्नाऽभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः । किञ्च सूङ्गां

तस्मादसं प्रदाय विदुः सर्वशास्त्रविदो मूर्खवदेकोपेक्षणीयः ॥ ५ ॥ इन्द्र अथर्वमन दाप
 १, २, ३, ५ संयोगं प्राप्य तेऽपः विशुद्धिः
 तेऽपः विशुद्धिः ॥ काठकोपनिषत् प्रथमाध्याय प्रथमवल्ली ॥ ५ ॥ माता पिता आचार्य ॥
 ५) वेद स्मृति शिष्टेः ॥ ५) प्रत्यक्ष अनुमान आगमैः
 ५) विज्ञान अध्ययन अनुष्ठान

ददामि भूयः । तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः

सूङ्गां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥ माता, संगीतमयीः शब्दवती रत्न-
 नाचिकेता अग्नि चयन को फल ॥ यमी. कर्ममय मार्गः

एतम् आ + ई + तुक् लप् त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति मेन.
 'अतस्तुकोरिति' जन्ममृत्यू । ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा स्तुतियोग्य देव.
 'अतस्तुकोरिति' स्वस्वमिदं कुर्वीतुं आत्मभावेन दृष्ट्वा निचाय्येमांश्च शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥ वैराजं पदं ज्ञानकर्म समुच्चयानुष्ठाने-
 न, स्वबुद्धिप्रत्यक्षम् से उत्पन्न.

और भी देता हूँ, यह अग्नि (लोक में अब) तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगा और तू इस अनेकरूपमयी
 माला को ग्रहण कर ॥ १६ ॥ माता का प्यार, पिता का धुतकार, गुरु का उपदेश एवं अनुशासन.

नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाला मनुष्य (उसका विज्ञान, अध्ययन और
 अनुष्ठान करने वाला, या माता, पिता एवं आचार्य) इन तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त कर जन्म
 तथा मृत्यु को पार कर जाता है, एवं ब्रह्म से उत्पन्न हुए, ज्ञानवान् और स्तुति के योग्य देव
 को (शास्त्र से जान कर तथा आत्मभावेन) अनुभव कर इस प्रत्यक्ष आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त
 करता है ॥ १७ ॥ आत्मज्ञ उपसर्ग से अडः अनु मा अडः 'आतो मोप इटि च'
 अनु म् अडः टाप अनुमा.

शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । यद्वा सूङ्गामकुत्सितां गतिं
 कर्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाऽऽह—

त्रिणाचिकेतस्त्रिःकृत्यो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस-
 तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा । त्रिभिर्मार्तृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं
 यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते । यथा "मातृमान्पितृमान्"
 (बृ० ४/१/२) इत्यादेः । वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा । तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा ।
 त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू । किञ्च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो
 हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ जज्ञचेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योत-
 नाज्ञानादिगुणव्रन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा गृहीत्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेमां
 स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति । वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन
 प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अनेड
 अर + ड
 अ + अ

- ① अधर्माज्ञान राग द्वेषादि लक्षणम्. (विधि-प्रतिषेध-रूप-विषय).
 ② क्रिया कारक फल अधरायेय.
 ③ ~~स्वाभाविकी~~ स्वाभाविकी ज्ञान संसार बीज का विपरीतः ज्ञानात्मक विज्ञान.
 90 मिताक्षराहिन्दुव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चि-

नुते नाचिकेतम्। स ^①मृत्युपाशान्मुरतः ^②प्रणोद्य नुद प्रेरणे.
 शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥ मानसैर्दुःखैर्वर्जित

एष तेऽग्निर्नाचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन

वरेण। एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं "असुक्" प्रत्यय.

वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

जो त्रिणाचिकेत विद्वान् है, (वह) अग्नि के इस त्रय को (अर्थात् ईदें कौन हैं, कितनी संख्या में हैं और किस प्रकार अग्नि का चयन किया जाय, इसे) जानकर नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह देहपात से पहले मृत्यु के बन्धन (अधर्म, अज्ञान, राग-द्वेषादि) को नष्ट कर शोक से पार हो स्वर्गलोक में आनन्दित होता है ॥१८॥

हे नचिकेता! तूने जिसे द्वितीय वर से वरण किया था, वह यह स्वर्ग का साधनभूत अग्नि तुझे बतला दिया गया। अब लोग इस अग्नि को तेरे नाम से ही कहेंगे। अतः हे नचिकेता! अब तू तीसरा वर माँग ले (क्योंकि इसे दिये बिना मैं तेरा ऋणी हूँ) ॥१९॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलमुपसंहरति प्रकरणं च—

त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद्विदित्वाऽवगम्य यश्चैवमात्मरूपेणाग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशानधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान्मुरतोऽग्रतः पूर्वमेव शरीरपातादित्यर्थः। प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत्। मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूप-प्रतिपत्त्या ॥१८॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरौ हे नचिकेतः स्वर्ग्यो, यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण, सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः। किंचैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतदेष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन। तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व। तस्मिन्हादत्ते ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥१९॥

अहं वृष्टं निदिग्मश्च अप्र प्रत्यय. वृ+अः वरः
 (3.3.58)

संशय : सुभाषुर्वा पुरुषो ना
विपर्ययः शुक्ति में रजत.
तर्कः यदि धर्मो न स्थानं वहि न स्थानं
काठकोपनिषत् प्रथमाध्याय प्रथमवल्ली

एतावद्धि मन्त्र ब्राह्मणेन

99

सामान्य उपक्रम

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति

चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष

वरस्तृतीयः ॥२०॥ वैराग्यवान् अधिकारी.

आत्म रहस्य रूप तृतीय वरः

संशय देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयम्- प्राकृतैर्जनैः.
शिक्षण परीक्षणार्थं शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि अतिरिक्त

मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह संशय होता है, कुछ लोग (जीव का) अस्तित्व मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते हैं। आपसे शिक्षित हुआ मैं इसे जानूँ, बस। वरों में से यही मेरा तीसरा वर है ॥२०॥

इस विषय में पहले देवताओं को भी संदेह हुआ था क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म धर्म सरलता

एतावद्भ्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु नाऽऽत्मतत्त्वविषयं याथात्म्यविज्ञानम्। अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्याऽऽत्मनि क्रियाकारकफलाद्यध्यारोपणलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलाध्यारोपणलक्षणशून्यमात्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याऽप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेणेत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति—

यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्याऽऽत्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते। नचिकेता उवाच "तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः" सन्। येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके नायमस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैकेऽतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वाऽनुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहमनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया। वराणामेष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥२०॥ २५/११/०५ प्रातः सूचित किया गया.

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानाहो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह—
देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुविज्ञेयं सुष्ठु विज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नचिकेतो

णुरेष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा असंदिग्धम् ।

मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥२१॥ विमुञ्च ।

don't pressure the creditor does to the debtor.

देकेता की दृढ़ता

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो

यत्र सुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न

लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

राज्य का प्रलोभन

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्यशून्हस्ति-

से जानने योग्य नहीं है । हे नचिकेता ! तू (इसके बदले) दूसरा वर माँगले, मुझे रोक नहीं, इसे तू मेरे लिय छोड़ दे ॥२१॥

(नचिकेता ने कहा) हे मृत्यु ! इस विषय में निश्चय ही देवताओं को भी सन्देह हुआ था और आप भी इसे सुगमता से जानने योग्य नहीं कहते हैं । (इससे तो यह मुझे अभीष्टतर प्रतीत होता है) इस गहन तत्त्व का वक्ता भी तो आपके समान दूसरा कोई नहीं मिल सकेगा और इसके समान दूसरा कोई वर भी नहीं है ॥२२॥

हे नचिकेता ! तू सौ की आयु वाले (शतायु) बेटे और पोते एवं बहुत से पशु, हाथी,

वृणीष्व मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णमिवोत्तमर्णः । अतिसृज विमुञ्चैनं वरं मा मां प्रति ॥२१॥ अरुणः ।

एवमुक्तो नचिकेता आह—

5-1 "आज्ञातोपयोगे" इति उपदाने पञ्चमी

देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवतु एव नः श्रुतम् । त्वं च मृत्यो यद्यस्मान्न सुविज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयस्यतः पण्डितैरुपदेशनीयत्वाद्वक्ता चास्य धर्मस्य त्वाद्वक्त्वत्तुल्योऽन्यः पण्डितश्च न लभ्योऽन्विष्यमाणोऽपि । अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥२२॥

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—

शतायुषः शतं वर्षाण्यायूंषि येषां ताज्जशतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व । किञ्च गवादि-लक्षणान्वहून्यशून् । हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम् अश्वांश्च । किञ्च भूमेः

हिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं चेदल्पायुरिति।
च जीव शरदो यावदिच्छसि॥२३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं
चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि भव।
कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥२४॥ सत्यसंकल्पात्

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्च-

इच्छन्तः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या

सुवर्ण तथा घोड़े माँग ले। विस्तृत भू-मण्डल का राज्य भी माँग ले और स्वयं भी जितने वर्ष तक जीना चाहे (उतने वर्ष तक) जीवित रहे॥२३॥

इसी के समान यदि तुम कोई (अन्य) वर समझते हो (तो उसे भी माँग लो) धन और चिरस्थायी जीवन भी माँग लो। हे नचिकेता! इस विस्तृत भूमि में (तू राजा होकर) वृद्धि को प्राप्त हो। मैं तुझे कामनाओं को इच्छानुसार भोगने वाला बना देता हूँ॥२४॥

इस मनुष्यलोक में जो-जो भोग दुर्लभ हैं, उन सभी भोगों को तुम स्वेच्छा से माँग लो। यहाँ पर रथ और वाजों के सहित जो दिव्य अप्सराएँ हैं, ऐसी (स्त्रियाँ हम जैसे देवताओं की

पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलसाम्राज्यं वृणीष्व। किञ्च सर्वमप्येतदनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह। स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम्॥२३॥

एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व। किञ्च वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत्। किं बहुना महाभूमौ महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव। किञ्चान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः॥२४॥

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके, सर्वास्तान्कामांश्छन्दत इच्छन्तः प्रार्थयस्व। किंचेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः। सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्बनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादि-

न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः । आभिर्मत्प्रत्ताभिः

परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः ॥२५॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकै तत्सर्वेन्द्रियाणां

जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव

तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो । लप्स्यामहे

कृपा के बिना) मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य नहीं होती । मेरे द्वारा दी हुई (इन सेविकाओं) से तू अपनी सेवा करा । पर हे नचिकेता ! मरण सम्बन्धी प्रश्न मत पूछ ॥२५॥

हे यमराज ! ये भोग कल तक रहेंगे या नहीं, ऐसे अनित्य हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण-शीर्ण कर देते हैं (अनित्य संसार में आपके द्वारा दिया हुआ) यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा है । अतः आपके वाहन और नाच-गान आपके पास ही रहें ! (हमें उनकी आवश्यकता नहीं) ॥२६॥

मनुष्य (अधिक) धन से भी तृप्त होने योग्य नहीं है । अब यदि आपको हमने देख लिया

प्रसादमन्तरेण । आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारयस्वाऽऽत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयाऽऽत्मन इत्यर्थः । नचिकेतो ! मरणं मरणसम्बद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं माऽनुप्राक्षीमैवं प्रष्टुमर्हसि ॥२५॥

एवं मृत्युना प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाहृदवदक्षोभ्य आह—

श्वोभावाः श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः । किञ्च मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो, यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्त्यपक्षन्त्यप्सरः प्रभृतयो हि भोगा अनर्थायैवेते । धर्मवीर्यप्रज्ञाते-जोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात् । यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु । सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजीविका । अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयस्तथा नृत्यगीते च ॥२६॥

किञ्च-न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न हि वित्तलाभः लोके कस्यचित्तृप्तिकरो

दृष्टवन्तः वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा । जीविष्यामो यावदी-
 यावद्याम्ये पदे शिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥ ^{आत्मविज्ञानम्}
 तदास्थः = पुत्रादि-असारः । असारज्ञः तदार्थी स्यात् ।
 अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः
 प्रजानन् । अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानुतिदीर्घे ^{शारीरिक अनित्य सुख}

जीविते को रमेत ॥२८॥

अकर्म = सिद्धा कर्तारि; सकर्म भाव कर्म के
 तो धन को हम प्राप्त कर ही लेंगे एवं जब तक आप (इस याम्य पद पर) शासन करेंगे,
 हम तब तक जीवित रहेंगे ही। पर हमारा प्रार्थनीय वर तो वही (आत्मविज्ञान ही)
 है ॥२७॥, ^{मणिं} दृष्टगतं ^{हिवा} मे वरादान् (कौडी) जिगृह्णते न हि सूठतमो कोके तस्मात् अन्यत्र ^{अप्यत्र}
 अजर-अमर देवताओं के समीप आकर नीचे धरती पर रहने वाला कौन जराग्रस्त विवेकी
 मनुष्य होगा (जो केवल शारीरिक अनित्य) सुखों को देखता हुआ भी अतिदीर्घ जीवन में प्रेम
 करेगा? ॥२८॥

दृष्टः । यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामहे इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो
 वयं चेत्त्वा त्वाम् । जीवितेऽपि तथैव जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वमीशिष्यसि त्वमीशिष्यसे
 प्रभुः स्याः । कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत् । वरस्तु मे वरणीयः स एव
 यदात्मविज्ञानम् ॥२७॥

यतश्चाजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्योपगम्याऽऽत्मन उत्कृष्टं
 प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्नुपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्क्वधःस्थः
 कुः पृथिव्यधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन्कथमेवमविवेकिभिः
 प्रार्थनीयं पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिरं वृणीते । क्व तदास्थ इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे
 चाक्षरयोजना तेषु पुत्रादिष्वास्थाऽऽस्थितिस्तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थस्ततोऽधिकतरं
 पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क्व तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्यादित्यर्थः ।
 सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकस्तस्मान्न पुत्रवित्तादिलाभैः प्रलोभ्योऽहम् । किञ्चाप्सरः-
 प्रमुखान्वर्णरतिप्रमोदाननवस्थितरूपतयाऽभिध्यायन्निरूपयन् यथावदतिदीर्घं जीविते को
 विवेकी रमेत ॥२८॥

अथ सौन्दर्य, हावभाव वाणी, अस्सरः प्रभृतीन् तत्प्रधानान्, नन्मूलकान्
 वा वर्णादिशब्दाभिधेयान्स्तान् तान् विषयान् ।

प्रेक्षा = प्राप्त करने की इच्छा; प्र आप सन् अ टप् = प्रेक्षा

"आप् सप् सृ धामीत्" 7-4-55. एषाम् अन्तः ईत् स्यात्.

प्र + ईत् स्यात् = प्रेक्षति. DP 455.

96

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

परलोकविषय में निश्चित विज्ञान.

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्सांपराये

महति ब्रूहि नस्तत्। योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो गहनं

नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥ अविनेकिभिः प्रार्थनीयम्.

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली समाप्ता ॥ १ ॥

हे मृत्यु! जिस (मरे हुए जीव) के सम्बन्ध में (मरने के बाद जीव रहता है या नहीं) ऐसा सन्देह करते हैं तथा महान् परलोक के विषय में जो (निश्चित विज्ञान) है, वह हमें बतलावें। यह जो अत्यन्त गहन और दुर्विवेचनीयता को प्राप्त (मेरा) वर है, इससे भिन्न और कोई वर नचिकेता नहीं माँगता है ॥ २९ ॥

नित्य
तत्

निवासे, समापन करने
तेषां प्रतीकारे" वा चिकित्सा + सन्

॥ इति प्रथमवल्ली समाप्ता ॥

अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितं यस्मिन्नेत इदं विचिकित्सन् विचिकित्सन्त्यस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो, सांपराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्तं आत्मनो निर्णयविज्ञानं यत्तद्ब्रूहि कथं नोऽस्मभ्यम्। किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टस्तस्माद्वादयमविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसाऽपीति श्रुतेर्वचनमिति ॥ २९ ॥

अथ

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदा-

चार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये

प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

आत्मनाम नमः गुरो, नमो एषादि अतिकृपण ज्येष्ठ पुत्र पत्नीनाम
आत्म श्रेष्ठ चाहने वाला नहीं लेता चाहिये

"निमित्त पक्षिण मोगे सर्वासात् विभक्तीनां दर्शनात्"

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्य आह ।

श्रेय प्रेय का विवेक

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयावल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे ^{अभ्युदय} ^{निः श्रेयसं} ^{शोभन, शिवं} ^{किं बन्धनं} ^{कियते है} ^{आ + इमसुन} ^{मन से आलोचन करके इस इव मनसा विचार} ^{एतः आ + इतः} ^{पृथक् करोती} ^{पशु पुत्रादि} ^{निमित्त योगक्षेमा} ^{२६}
 पुरुषश्च सिनीतः । तयोः श्रेय आददानस्य दा + शानच ।
 साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥
 श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ ^{संपरीत्य} ^{विविनक्ति} ^{एतः आ + इतः} ^{पृथक् करोती} ^{पशु पुत्रादि} ^{निमित्त योगक्षेमा} ^{२६}
 धीरः । श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते ^२ ^३ ^४
 प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥

श्रेय (अमृतत्व) भिन्न ही है तथा प्रेय (अभ्युदय) भिन्न ही है। वे दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजन वाले होते हुए ही (वर्णाश्रमादि से विशिष्ट) पुरुष को बाँधते हैं। उन दोनों में से श्रेय के ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है और जो प्रेय का वरण करता है, वह (मूढ पुरुष पारमार्थिक प्रयोजन रूप नित्य) पुरुषार्थ से पतित हो जाता है ॥ १ ॥

श्रेय और प्रेय (परस्पर मिले हुए के जैसे) मनुष्य के पास आते हैं। उन दोनों को (नीर-क्षीर विवेकी हंस के समान) बुद्धिमान् पुरुष भली प्रकार विचार कर पृथक्-पृथक् कर लेता है (इस प्रकार श्रेय-प्रेय का) विवेकी प्रेय की अपेक्षा (अभीष्टतम होने के कारण) श्रेय का ही वरण करता है, किन्तु मूढ पुरुष तो योगक्षेम के निमित्त प्रेय का वरण करता है ॥ २ ॥

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याऽह—

अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथाऽन्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि ते प्रेयः श्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यां विद्याविद्याभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः । श्रेयः प्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते । अतः श्रेयः प्रेयः प्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः । ते यद्यप्येकैकपुरुषसम्बन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात्तयोर्हित्वाऽविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति । यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यते । कस्मात् ? अर्थात्पुरुषार्थात्पारमार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात्प्रच्यवते इत्यर्थः । कोऽसौ ? य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत् ॥ १ ॥

यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवाऽऽदत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—

सत्यं स्वायत्ते तथाऽपि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती

अधीने निष्ठा ; आयत्तो, स्वच्छन्दो, गृह्यको, अपि असौ इत्यमरः
 आश्रित नौकर

अप्सरः etc., स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामानभिध्याय- तेषां अनित्यत्वं चिन्तयन्
नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः। नैतां सृङ्कां वित्तमयीं सृज विदर्शयते।
मवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति जाना गती अज्ञान प्रज्ञे
संसार मोक्ष कर्तव्ये।
जाना। विद्याभीप्सनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा

कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥ क्रियापदः मंड. लुगन्त, अप्रत्ययलोभी
भूम

हे नचिकेता! (मेरे द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी) उस तूने पुत्र-वित्तादि प्रिय और
अप्सरादि प्रिय रूप भोगों को (उनके अनित्यत्व असारत्व रूप दोषों का) चिन्तन करते हुए त्याग
दिया है। जिसमें बहुत मूढ़ मनुष्य डूब जाते हैं, ऐसे इस धन प्रायः कुत्सित गति को तू प्राप्त
नहीं हुआ ॥३॥

ये दोनों (प्रकाश और अन्धकार के समान) अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाली एवं विपरीत
रूप से जानी गयी हैं, इनमें से मैं तुझे नचिकेता को विद्याभिलाषी मानता हूँ क्योंकि (मुखों
को प्रलोभित करने वाले अप्सरादि) बहुत से भोग भी तुझे लुभा न सके ॥४॥

आ इति = एते।
व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यं पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्चप्रेयश्च। अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ
श्रेयः प्रेयः पदार्थौ संपरीत्य सम्यक्परिगम्य मनसाऽऽलोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति
धीरो धीमान्। विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात्। कोऽसौ धीरः ? पूज्यः
यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः; स विवेकासामर्थ्याद्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीरद्युपचयरक्षण-
निमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते ॥२॥

स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान्पुत्रादीन्प्रियरूपांश्चाप्सरःप्रभृति- रूप-
लक्षणान्कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषामनित्यत्वासारत्वादिदोषान्हे नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षी-
रतिसृष्टवान्प्रित्यक्तवानस्यहो बुद्धिमत्ता तव नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां
मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम्। यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा
मनुष्याः ॥३॥

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत इत्युक्तं
तत्कस्माद्यतो दूरं दूरेण महताऽन्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेका-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं-

द्रुम गतौ यदन्तः। मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति, मूढा दुःखैः परिगच्छन्ति
अन्धे नैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥५॥

रत्नलोक प्राप्ति साधन स्वर्ग अविवेकिनः पुत्र पश्यादि प्रयोगेने ध्वंसकमानसं
न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्त- संसारासक्तं
मोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति
मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

वे (घनीभूत) अविद्या के भीतर रहने वाले अपने आप बड़े बुद्धिमान् बने हुए, अपने को पण्डित मानने वाले मूढ़ पुरुष (अनेक अनर्थ वाले) कुटिल गति को वैसे ही प्राप्त होते हैं— जैसे अन्धे से ही ले जाये जाते हुए अन्धे महान् अनर्थ को प्राप्त होते हैं ॥५॥

धन के मोह से (अन्धे हुए पुत्र-पशु आदि में आसक्त) प्रमाद करने वाले मूर्ख को परलोक का साधन नहीं दीखता है। यही लोक है, परलोक नहीं है ऐसा मानने वाला (पुरुष) बारम्बार मुझ मृत्यु के वश को प्राप्त होता रहता है ॥६॥

त्मकत्वात्तमः प्रकाशाविव। विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत्।
के ते? इत्युच्यते—या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति चै श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञाताऽवगता
पण्डितैस्तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये। कस्माद्यस्मादविद्वद्बुद्धि-
प्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः
श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासंपादनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्ये इत्य-
भिप्रायः ॥४॥

ये तु संसारभाजना अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः
पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति
मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिं गच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः
परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा
बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥५॥

अत एव मूढत्वान्न सांपरायः प्रतिभाति। संपरेयते इति संपरायः परलोक-
स्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः सांपरायः। स च बालमविवेकिनं प्रति न भाति

१ मनुष्माणं सहस्रेषु

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि

इति भवति यत् प्रत्योऽपि न लभ्यते अथापि नोऽसंस्कृतात्मनो वीराचन.

कश्चिद्.

बहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य

लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

४ हीनेन बुद्धिवाक्ये

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा

जो (यह आत्मतत्त्व) बहुतों को सुनने के लिये भी नहीं मिलता, (दूसरे अभागे मलिन बुद्धि वाले) बहुत से सुनते हुए भी जिसे समझ नहीं पाते, उस आत्मतत्त्व का निरूपण करने वाला भी (अनेकों में से विरला ही) कोई आश्चर्य रूप है, इसको प्राप्त करने वाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य से उपदेश प्राप्त किया हुआ ज्ञाता पुरुष भी आश्चर्य रूप ही है ॥ ७ ॥

(४) ईश्वरकृपा, शस्त्रकृपा, आत्मकृपा से साक्षात्कार होती है।

(कर्ता-अकर्ता, शुद्ध-अशुद्ध ऐसे) अनेक प्रकार से विकल्पित यह आत्मा साधारण बुद्धि वाले पुरुष द्वारा कहे जाने पर अच्छी प्रकार समझा नहीं जा सकता। पर अभेददर्शी आचार्य द्वारा

न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् । प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्चादिप्रयोजनेष्वा-
सक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाऽऽच्छन्नं सन्तमयमेव लोको
योऽयं दृश्यमानः स्व्यन्नपानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो, लोक इत्येवं मननशीलो मानी
पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ स्थित
एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण होवन्विध एव लोकः ॥ ६ ॥

५ देवता का चर नीचे नहीं दीकृतो : ६ अगवत्कथा खरा है : सोने समझ कुत कुल में सुन दिया

यस्तु श्रेयोऽर्थी स सहस्रेषु कश्चिदेवाऽऽत्मविद्भवति त्वद्विधो यस्माच्छ्रवणायापि
श्रवणार्थं श्रोतुमपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं
न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः । किंचास्य वक्ताऽप्याश्चर्योऽद्भुतव-
देवानेकेषु कश्चिदेव भवति । तथा श्रुत्वाऽप्यस्याऽऽत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु
लब्धा कश्चिदेव भवति । यस्मादाश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन
निपुणेनाऽऽचार्येणानुशिष्टः सन् ॥ ७ ॥

कस्मात्—

नहि नरेणा मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिनेत्येतदुक्त एष आत्मा यं
त्वं मां पृच्छसि । न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो यस्माद्बहुधाऽस्ति नास्ति
कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः । कथं पुनः सुविज्ञेय

वादिभिः चिन्त्यमानः । अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणी- ^{अपृथग्दर्शनाचार्य}
यान्द्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥ ^{तर्कप्रतिष्ठानात् अणुतरं अन्तो}

अनागमज्ञः नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय ^{तार्किको कादः अणुपुत्रः शास्त्र के ज्ञाता आचार्येन}
हे प्रियतम प्रेष्ठ । यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्गो प्राप्तवान्
भवतु अन्यः भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥ ^{प्राप्त करने वाला अवितर्क विद्वन्मन्यते}

उपदेश किये गये इस आत्मतत्त्व में (पूर्वोक्त विकल्प रूप कोई) गति नहीं है, क्योंकि यह सूक्ष्म परिमाण वालों से भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है ॥८॥

हे प्रियतम! तुम बड़े ही सत्य धैर्य वाले हो, तुम जिस बुद्धि को प्राप्त किये हो, यह तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है; क्योंकि इस यथार्थबोध के लिये (आगम से अनभिज्ञ शुष्क) तार्किक से भिन्न शास्त्र के ज्ञाता आचार्य द्वारा बतलाई गयी यह बुद्धि है। (जिसे मेरे वरदान से तूने प्राप्त किया)। हे नचिकेता! हमें तेरे समान पुत्र या शिष्य प्रश्न करने वाला प्राप्त हो ॥९॥

इत्युच्यते— अनन्यप्रोक्तेऽनन्येनापृथग्दर्शिनाऽऽचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्ते उक्ते ✓
आत्मनि गतिरनेकधाऽस्तिनास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन्नात्मनि नास्ति न विद्यते ✓
सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः । अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन्नात्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते ✓
गतिरत्रान्याऽवगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्याभावात् । ज्ञानस्य ह्येषा पराकाष्ठा यदात्मैकत्व- ✓
विज्ञानम् । अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिरत्रावशिष्यते । संसारगतिर्वाऽत्र नास्त्यनन्य आत्मनि ✓
प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य । अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाऽऽचार्येण प्रोक्ते ✓
आत्मन्यगतिरनवबोधोऽपरिज्ञानमत्र नास्ति । भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यह- ✓
मित्याचार्यस्येवेत्यर्थः । एवं सुविज्ञेय आत्माऽऽगमवताऽऽचार्येणानन्यतया प्रोक्तः । इतरथा[ह्य]
णीयानणुप्रमाणादपि संपद्यत आत्मा । अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याऽभ्यूहेन केवलेन
तर्केण । तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित्स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरमन्योऽभ्यूहति
ततोऽप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते ॥८॥

अपृथग्दर्शनाचार्य अतोऽनन्यप्रोक्ते आत्मन्युत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्ध्य-
भ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः । नापनेतव्या वा न हातव्या । तार्किको ह्यनागमज्ञः
स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किंचिदेव कथयति । अत एव च येयमागमप्रसूता मतिरन्ये-
नैवाऽऽगमाभिज्ञेनाऽऽचार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम ।

जानाम्यहं शेषवधिरित्यनित्यं न ह्यधुवैः प्राप्यते कर्मफलं लक्षणोक्तिः

हि ध्रुवं तत् । ततो मया नचिकेतश्चितोऽ-

ग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

कामस्याऽऽप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभ-

यस्य पारम् । स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा-
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः ॥ ११ ॥

कर्मफल रूप निधि अनित्य है इसे मैं जानता हूँ क्योंकि अनित्य साधनों से (कभी भी) वह नित्य आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं किया जा सकता । इस प्रकार जानते हुए भी मेरे द्वारा नचिकेत अग्नि का चयन किया गया और उन्हीं अनित्य पदार्थों से मैं (आपेक्षिक) नित्य (स्वर्ग नामक याम्य पद) को प्राप्त हुआ हूँ ॥ १० ॥

हे नचिकेता ! भोगों की पराकाष्ठा (अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैवादि) जगत् की प्रतिष्ठा, यज्ञ फल की अनन्तता, अभय की सीमा, स्तुति के योग्य, महती (अणिमादि ऐश्वर्य युक्त) विस्तीर्ण गति तथा अपनी सर्वोत्तम स्थिति को देख कर भी उसे तूने धैर्य से त्याग दिया । अहो ! तुम बड़े ही बुद्धिमान् (एवं उत्कृष्ट गुण से सम्पन्न) हो ॥ ११ ॥

का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते । यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेनाऽऽपः प्राप्तवानसि । सत्याऽवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये । त्वादृक्त्वत्तुल्यो नोऽस्मभ्यं भूयाद्भवत्वन्वयः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा । कीदृग्यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥ ११ ॥

पुनरपि तुष्ट आह—

जानाम्यहं शेषवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यते इति । असावनित्यमनित्य इति जानामि । न हि यस्मादनित्यैरधुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते । परमात्माख्यः शेषवधिः । यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेषवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते । हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानताऽपि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः पश्यादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित इत्यर्थः । तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि ॥ १० ॥

त्वं तु कामस्याऽऽप्तिं समाप्तिम्, अत्र हि सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्मा-
धिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम् ।

आत्मज्ञान का फल

काठकोपनिषत् प्रथमाध्याय द्वितीयवल्ली तत्रोपलभ्यमानत्वात् बुद्धौ स्थितं गहनस्थान में रहने वाला दुष्प्रवेश २३

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-
शोकौ जहाति ॥१२॥

आत्मभावेन फल २
खुला हुआ मोक्ष द्वारा

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यम- पृथक् करके
णुमेतमाप्य । स मोदते मोदनीयत्वं हि आत्मानं
लब्ध्वा विवृतत्वं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥१३॥ ब्रह्म भवन

(अतिसूक्ष्म होने के कारण) कठिनता से दीखने वाले (विषय विज्ञान से) छिपे हुए होने से गूढ स्थान में प्रविष्ट, बुद्धि में स्थित, गहन स्थान में रहने वाले उस पुरातन देव को (चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में लगाना रूप) अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा जानकर बुद्धिमान् पुरुष हर्ष शोक को त्याग देता है ॥१२॥

मरणधर्मा मनुष्य (मेरे द्वारा बतलाये गये) इस आत्मतत्त्व को सुनकर उसका भलीभाँति मनन कर धर्म से युक्त इस सूक्ष्म आत्मा को देहादि संघात से पृथक् करके प्राप्त कर तथा इस मोदनीय तत्त्व की उपलब्धि कर अति आनन्दित हो जाता है। मैं तुझ नचिकेता को खुले हुए ब्रह्म भवन वाला (मोक्ष के योग्य) समझता हूँ ॥१३॥

धृष्ट्या

अभयस्य च पारं परां निष्ठाम् । स्तोमं स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तोममहत् । उरुगायं विसृतीर्णगतिम् । प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्त- (हिरण्यज-र्म पद)
मामपि दृष्ट्वा धैर्येण धीरो धीमान्सन्नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः परमेवाऽऽकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वमेतत्संसारभोगजातम् । अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ॥११॥

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानं तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शमतिसूक्ष्मत्वात्तम् ।
गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत् । गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात् । गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसङ्कटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम् । यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्ठः । अतो दुर्दर्शः । तं पुराणं पुरातनमध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहत्य चेतस आत्मनि समाधानमध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो धीमान्हर्षशोकावात्मन् उत्कर्षापकर्षयोरभावो ज्जहाति ॥१२॥

गहनं वन इ-रवयो गह्वरे कलिले चापि हेम दुष्प्रवेश

किंचैतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाऽऽचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्यो-
पादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्योद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेरणं सूक्ष्ममेतमा-

अवते (ह) तो पद्म अव मन् (ह) तो पद्म अव म् अवः ३४ ३५ ओम्

कन-3-Page 30 Ref. फन धर्म.

२४

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

पूर्वातीत वस्तु का प्रश्न

शास्त्रीय कर्म कल कारकात्, विहित अकरणात्.

विशेष उपक्रम

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। कार्य, कारण.

तत्रापापविह्वल्य अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥ सर्व व्यवहारतीतं. कार्य का उपदेश। आभाषस्य कृपा भव्यात् आनर्ध्वय अतदधीनाम् इसका ऊँकारा भाव.

हन् चरन्ति.

हन् वेदानुष्ठानं च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति असंग ब्रह्म चिन्तन.

तत्ते पदशं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥

ओंकार स्वरूप आत्मनः निदिधाराभिधेयाः निदिधानमवाच्य प्रतीकं अधिभाषक ओंकार.

जो (शास्त्रीय धर्मानुष्ठान रूप) धर्म से पृथक् तथा अधर्म से पृथक् और इस कार्य-कारण रूप प्रपञ्च से भी पृथक् है तथा जो भूत, भविष्यत् (एवं वर्तमान) से भी पृथक् है, ऐसा आप जिसे देखते हों; वही मुझे बतलाओ ॥१४॥

एक शब्द सुष्ठुगतः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्ग लोके कामधुक् भवति.

सभी वेद जिसको बतलाते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये सभी तपों को कहते हैं एवं जिसकी इच्छा करते हुए (गुरुकुल वासादि कठोर) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं उस पद को मैं तुम्हें संक्षेप में कहता हूँ। (जिसे तू जानना चाहता है) ॐ वह पद है ॥१५॥

त्मानमाप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा। तदेवंविधं ब्रह्मसद्य भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्युपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्रायः ॥१३॥

अवते (ह) तो पद्म अव + मन् (ह) तो पद्म अव म् अवः ३४ ३५ ओम्

लोके से भी यदि राम नाम लेता है। उसके लिये भूता हमारी चमड़ी से बनाउं।

॥ १ आहिनकम् ॥

यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रत्यन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्त-त्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः। तथाऽन्यत्राधर्मात्तथाऽन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मादन्यत्र। किंचान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात्। कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः। यदीदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि जानासि तद्वद मह्यम् ॥१४॥

इत्येवं पृष्ठवते मृत्युरुवाच पृष्ठं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—

सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनाऽऽमनन्ति प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुमिच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि, ओमित्येतत्। तदेतत्पदं यदबुभुत्सितं त्वया यदेतदोमित्योऽशब्दवाच्यमोऽशब्दप्रतीकं च ॥१५॥

विहित कर्म २ नियम नेमि (नैतिक) कार्य-निषिद्ध कर्म.
 पण्डित से बोलिये हितकारि, मुख्य से रहिये शक्तियारि do not talk.
 मन्त्र परम तद्ध आसुबसा विधि दृष्टि धर सबे.
 मन्त्रात्मन् गजराज कहें बस कर अंकुश सबे ॥ रहिये पण्डित दखत लक्ष्मणागा । जैसे उदित
 ओंकार स्तुति तु रामाग्रजाम् त्रिभुवन तम भागा.

एतद्व्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्व्येवाक्षरं परम् ।

एतद्व्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥ उपास्यम् ।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

आत्म निरूपण
 ३५ अक्षर/सं
 न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन् न होने वाले
 परिणत नही हुआ चैतन्य मेधावी आत्मा
 बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं

पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥ ३/६/१९५१
 राम न सकटि नाम गुण गाई । कष्टों कष्टों लक्षि नाम बेड़ाई ॥ नाम लेत अब सिद्ध सुखाई । करद

यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है एवं यह अक्षर ही पर ब्रह्म है, इस अक्षर को ही जानकर
 (पर या अपर) जिसकी जो इच्छा करता है, उसका वही हो जाता है ॥१६॥

राम आत्मा कवि कटक बेहोरा । सेतु देतु अम कीन्ह न थोरा
 (ब्रह्म-प्राप्ति के आलम्बनों में) यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर-आलम्बन है । इसी आलम्बन
 को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में (परब्रह्म में स्थित हो) महिमान्वित होता है ॥१७॥

(चैतन्य स्वभाव के कारण) यह मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है,
 यह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुआ और न स्वतः ही अर्थान्तर रूप से बना है । अतः
 यह आत्मा अजन्मा, नित्य शाश्वत (नाशरहित) और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी
 स्वयं मरता नहीं है ॥१८॥

अत एतद्व्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्व्येवाक्षरं परं च । तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्,
 एतद्व्येवाक्षरं ज्ञात्वापास्य ब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति । परं चेज्ज्ञातव्यमपरं जानना,
 चेत्प्राप्तव्यम् ॥१६॥ प्राप्त हो गा ।

यत एवमत एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम् । एतदालम्बनं परमपरं
 च परापरब्रह्मविषयत्वात् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते । परस्मिन्ब्रह्मण्यपरस्मिंश्च
 ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ॥१७॥

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्याऽऽत्मनोऽशेषविशेषरहितस्याऽऽलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन
 चोँकारो निर्दिष्टः, अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपत्तुप्रति । अथेदानीं तस्योँकाराल-
 म्बनस्याऽऽत्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिष्येदमुच्यते—
 उपासकान्

④ पश्य नाहं कुतो भावो ...

२६

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

नास्ति कर्तुं ना, अन्वयवादेमाप्रिय श्रीकृष्ण जनको यथा.

④

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुश्च हतश्चेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायश्च हन्ति न हन्यते ॥१९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोः - जन्तादि स्तवपर्यन्तप्राणि.

(ऐसे आत्मा को भी, देहमात्र को मैं मानने वाला पुरुष) यदि मारने वाला व्यक्ति आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जाने वाला उसे मारा हुआ जानता है, तो वे दोनों ही (उस आत्मा को) नहीं जानते हैं क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न ही मरता ही है ॥१९॥

यह आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा महान् से भी महत्तर, इस जीव की हृदय रूपी गुफा में (अन्तरात्मरूप से) स्थित है (दृष्टादृष्ट बाह्य विषयों से उपरत) निष्काम पुरुष

न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्याने-
कविक्रियास्तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहाऽऽत्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं
सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी, अविपरिलुप्तचैतन्य-
✓ स्वभावत्वात्। किंच नायमात्मा कुतश्चित्कारणान्तराद्बभूव। स्वस्माच्चाऽऽत्मनो न
बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतोऽयमात्माऽजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो
✓ ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते। अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुराऽपि नव एवेति। यो
✓ ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो, यथा कुम्भादिस्तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो
✓ वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः। यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे।
तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥१८॥

एवंभूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं
हनिष्याम्येनमिति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः
स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव।
अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य, श्रुतिप्रामाण्यान्यायाच्च
धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥१९॥

कथं पुनरात्मानं जानातीत्युच्यते—

अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्ज्यामाकादेरणुतरः। महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः
पृथिव्यादेः। अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवाऽऽत्मना नित्येनाऽऽत्मवत्सम्भवति।
तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते। तस्मादसावेवाऽऽत्माऽणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनाम-

संकल्प. निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीत-अकामो दृष्टा दृष्ट.
शोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

अचल. आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। स चेहैव वर्तते।
कामिभिः कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

विरुद्ध धर्मवान्.

अपनी इन्द्रियादि के प्रसाद से आत्मा की उक्त महिमा को देखता है और शोकरहित हो जाता है ॥ २० ॥

वह अचल होता हुआ भी दूर तक जाता है तथा सोता हुआ भी सभी ओर जाता है, वह मद से युक्त और मद (हर्ष) से रहित है, उस देव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है ॥ २१ ॥

रूपवस्तुपाधिकत्वात्। स चाऽऽत्माऽस्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहितः आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः। तमात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्ग-मक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः। यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययमहमस्मीति साक्षाद्विजानाति। ततो वीतशोको भवति ॥ २० ॥

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—

आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन्दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति। अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य कस्यचिद्विज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणि-वदवभासते। अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति। करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति। यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञान-त्वात्सर्वतो यातीव, यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित इव सन्मनआदिगतिषु तदुपा-धिकत्वाददूरं व्रजतीव, स चेहैव वर्तते ॥ २१ ॥

समुपहित = २० ३६ १० ६० २५ २० ६० २०

अज्ञान का प्रयोग
जानिका पारम्परिक व्यवहार
जानिका गान्धर्विक प्रयोग

अध्यास

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं

विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न

बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष

आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम् ॥ २३ ॥

जो (देवादि अनित्य) शरीरों में शरीररहित तथा नित्य स्वरूप है, उस महान् सर्वव्यापक

आत्मा को (यह मैं हूँ इस प्रकार) जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

यह आत्मा (वेदाध्ययन रूप) प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न (ग्रन्थार्थ) धारण

शक्ति या अधिक श्रवण से प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह साधक जिसका वरण करता है उस

आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है । उसके समक्ष यह आत्मा अपने स्वरूप को अनावृत

कर देता है ॥ २३ ॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—

अशरीरं स्वेन रूपेणाऽऽकाशकल्पः आत्मा, तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादि-

शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितरहितेष्वनित्येष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत् । महान्तं

महत्त्वस्याऽऽपेक्षिकत्वशङ्कायामाह-विभुं व्यापिनमात्मानम् । आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्व-अभेद

प्रदर्शनार्थम् । आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वाऽयमहमिति धीरो

धीमान्न शोचति । न ह्येवंविधस्याऽऽत्मविदः शोकोपपत्तिः ॥ २२ ॥

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा, तथाऽप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो, नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या ।

न बहुना श्रुतेन केवलेन । केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते । यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते

तेनैवाऽऽत्मनावरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत इत्येतत् । एवं निष्कामस्याऽऽत्मानमेव प्रार्थयतः

आत्मनैवाऽऽत्मा लभ्य इत्यर्थः । कथं लभ्यः ? इत्युच्यते । तस्याऽऽत्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते

प्रकाशयति पारमार्थिकं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

[आत्मज्ञान का अधिकारी]

काधिकं पापम्

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

चित्त एकाग्र नहीं

नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥

[अध्याय]

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥२॥

जो (श्रुति-स्मृति से अविहित) पाप कर्मों से नहीं हटा है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं, जो असमाहित मन वाला है और जिसका चित्त शान्त नहीं है, वह इसे ब्रह्मज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता ॥२४॥

जिस आत्मा के (सर्वधर्मरक्षक) ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों भात हैं तथा मृत्यु जिसका शाकादि है; वह जहाँ है, उसे कौन (अज्ञानी पुरुष पूर्वोक्त अधिकारी के समान) इस प्रकार जान सकता है ॥२५॥

॥ इति द्वितीयवल्ली समाप्ता ॥

किंचान्यत्—

न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतोऽनुपरतः । नापीन्द्रियलौल्यादशान्तोऽनुपरतः । नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमानो विक्षिप्तचित्तः । समाहितचित्तोऽपि सैन्समाधानफलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तः । प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात् । यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाऽऽचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२४॥

यस्तु वनेवंभूतो यस्याऽऽत्मनो ब्रह्म च क्षत्रं च ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम् । सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनमिव ओदनस्याशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन्क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः । वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥२५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदा-

चार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये

द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥२॥

गन्ता एवं गन्तव्य अद्वैत दो आत्मा का निरूपण।

अथ प्रथमाध्याये तृतीयावल्लो

कर्मफलं ¹⁴ ऋतं ⁵ पिबन्तौ ^{स्वयं कृतस्य} सुकृतस्य ^{अस्मिन् शरीरे} लोके ⁷ गुहां ⁸ प्रविष्टौ ^{बुद्धौ}।
^{आश्रय आकाश} परमे ^{से परे हादाकाश} परार्धे (ध्वे)। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति ^{ब्रह्मणो स्थानं}।
^{गृहस्थाः} पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥ ^{संसारित्वासंसारित्वेन विलक्षणौ।}
^{कर्मिणां} यः सेतुरीजानानामक्षरं ^{जमानानां} ब्रह्म यत्परम्। अभयं ^{आत्मा} आत्मा ^{परमात्मानो} तृतीर्षतां ^{पारं} नाचिकेतश्च ^{शकेमहि} ॥२॥

इस शरीर में बुद्धि-रूप गुफा के भीतर (देहाश्रित आकाश स्थान की अपेक्षा) उत्कृष्ट पर-ब्रह्म के स्थान में दो प्रवेश किये हुए हैं। अपने कर्मफल को भोगने वाला (संसारी और असंसारी होने के कारण) छाया तथा धूप के समान (परस्पर विलक्षण) हैं, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं। यही बात जिन्होंने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया है, वे और पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले भी कहते हैं ॥१॥

यजन करने वाले (कर्मि यजमान) के लिये जो सेतु के समान है, उस नाचिकेत अग्नि को तथा संसार से पार जाने वालों का जो अभय, परम आश्रय है, उस अक्षर ब्रह्म को जानने में हम समर्थ होवें ॥२॥

पि
 ऋतं षिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः सम्बन्धः। विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले इत्युपन्यस्ते, न तु सफले ते यथावन्निर्णीते। तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम्। एवं च प्राप्तप्राप्यगन्तुगन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानावुपन्यस्येते—

ऋतं सत्यमवश्यंभावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ। एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरस्तथाऽपि पातृसंबन्धात्पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्यायेन। सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण सम्बन्धः। लोकेऽस्मिञ्शरीरे। गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ। परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम्। परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्ध (ध्वे?) म्। तस्मिन्नि परं ब्रह्मोपलभ्यते। अतस्तस्मिन्परमे परार्धे (ध्वे?) हादाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः। तौ च छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलमकर्मिण एव वदन्ति। पञ्चाग्नयो गृहस्थाः। ये च त्रिणाचिकेताः, त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ॥१॥

यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थत्वाच्चाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः। किञ्च यच्चाभयं भयशून्यं संसारस्य पारं तृतीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः।

शरीरादि में रथादि रूप की कल्पना कावकोपनिषत् प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली

संसारिणं

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

अध्यवसायलक्षणां

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। मार्गान्

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

(कर्म फल भोगने वाले संसारी) आत्मा को रथ का स्वामी जानो और शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथि और संकल्पादि रूप मन को लगाम समझो ॥३॥

(रथ कल्पना में कुशल विवेकी पुरुष) इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं, (उन इन्द्रियों को घोड़े रूप कल्पना करने पर) रूपादि विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रियों एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं ॥४॥

* परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः। एतयोरेव ह्युपन्यासः कृतः पितृव्यविति ॥२॥

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च, तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते। तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि। शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य। बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य। सारथिनेतृप्रधान इव रथः। सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण। मनः सङ्कल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि। मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशन-येवाश्वाः ॥३॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयानाहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात्। तेष्विन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान् रूपादीन्विषयान्निबद्धि। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः। न हि केवलस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्। तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति— “ध्यायतीव लेलायतीव” (बृ० ४/३/७) इत्यादि। एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्याऽऽत्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते, नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥४॥

अ (विवेकी

अशक्यनिवारणानि

अवसासना रहित

रविवेकी का संसार गमन

द्वारं परमं पदम्

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। असमाहितेन

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।

न स तत्पदमाप्नोति सत्संसारं चाधिगच्छति ॥७॥

किन्तु जो (बुद्धिरूप सारथि रथ-संचालन में) सर्वथा अकुशल (प्रवृत्ति-निवृत्ति के विवेक से रहित है) और जो असंयत चित्त से युक्त है, उसके अधीन इन्द्रियाँ उसी प्रकार नहीं रहतीं, जैसे अन्य सारथि के अधीन दुष्ट घोड़े (काबू में नहीं रहते) ॥५॥

किन्तु जो (पूर्वोक्त सारथि से विपरीत बुद्धिरूप सारथि) कुशल और सदा नियन्त्रित मन से युक्त होता है, उसके अधीन (अश्वस्थानीय) इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे सारथि के अधीन अच्छे घोड़े (काबू में रहते हैं) ॥६॥

परन्तु जो अविज्ञानवान् अनियन्त्रित चित्त और सदा अपवित्र रहने वाला सारथि होता है (ऐसे सारथि के द्वारा) वह रथी उस परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि जन्म-मरणरूप संसार को प्राप्त होता है ॥७॥

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिर्विज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति, यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेनाप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदाऽयुक्तो भवति, तस्याकुशलस्याबुद्धिसारथेरिन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यान्यशक्यान्यनिवारणीयानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ॥५॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्निपुणो विवेकवान्युक्तेन मनसा प्रगृहीतमनः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि, दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥६॥

तत्र पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—

यस्त्वविज्ञानवान्भवति। अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव। न सारथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदमाप्नोति तेन सारथिना। न केवलं कैवल्यं, नाऽप्नोति संसारं च

जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥७॥

अतएव कर्तारो हि रूपश्चेद् माकांक्षीस्तर्हि युक्तता
न हि स्वभाव भावानां व्यावर्तेत औष्णवत्.

काठकोपनिषत् प्रथमाध्याय तृतीयवल्ली

३३

विवेकी का कैवल्य गमन

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥

विवेकः किञ्च
विषयः
विवेकः चरानरम्
व्यापकशीलः

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। विवेक सारथी.

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

इन्द्रियादि का तारवन्त्य

अपञ्चीकृत भूत -
सूक्ष्म अ. ८, ८,
अध्वनवसाभारंभकम् भूत सूक्ष्म

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। by which these
senses are

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥ created.

किन्तु जो द्वितीय विज्ञानवान्-सारथि से युक्त संयतचित्त और सदा पवित्र रहने वाला रथी
होता है, वह तो उसी पद को प्राप्त करता है जहाँ से फिर (संसार में) उत्पन्न नहीं होता ॥८॥

जो मनुष्य विवेक बुद्धि वाले सारथि से युक्त और मन रूपी लगाम को अपने अधीन
रखने वाला होता है, वह संसार गति से पार होकर व्यापक परमात्मा के परम पद स्थान को
प्राप्त कर लेता है ॥९॥ व्यापन शीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनः वासुदेवाख्यः
वासयति भूतानि आस्मिन् इति वासुः वासुश्च असौ देवश्च स्वप्रकाशः

इन्द्रियों की अपेक्षा (उनके आरम्भक भूत सूक्ष्म रूप) विषय श्रेष्ठ हैं, उन विषयों से
मन का आरम्भक भूत सूक्ष्म श्रेष्ठ है, मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि-शब्द-वाच्य निश्चयादि का आरम्भक
भूत सूक्ष्म है और ऐसी बुद्धि से महान् आत्मा (महत्तत्त्व) उत्कृष्ट है ॥१०॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान्विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वानित्येतत्। युक्तमनाः समनस्कः
स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति। यस्मादाप्तात्पदादप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते
संसारे ॥८॥

किं तत्पदमित्याह— किं तत्पदमित्याह—

विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान्प्रगृहीतमनाः
समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेवाधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति
मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः। तद्विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं
प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्वदसावाप्नोति विद्वान् ॥९॥

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण
प्रत्यगात्मतयाऽधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदमारभ्यते—

हेरण्यगर्भः महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। वटकणिकाग्रामः
महतः परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
आत्मत्वेन अविद्यमानात्मा

महत्तत्त्वं से सूक्ष्मतर (सम्पूर्ण जगत् का बीजभूत) अव्यक्त (अव्याकृत प्रकृति) है और अव्यक्त से सूक्ष्मतर श्रेष्ठ पुरुष से परे अन्य कुछ भी नहीं है। वही पराकाष्ठा है एवं वही सर्वोत्कृष्ट गति है ॥११॥

आत्मा सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य है (ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ

स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि, तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनायाऽऽरब्धानि तेभ्य, इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च। तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः। मनःशब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मम्। संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वान्मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिर्बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम्। बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वादव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥१०॥

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूत-

✓ मव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपमव्याकृताकाशादिनामवाच्यं
✓ परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः। तस्मादव्यक्तात्परः
✓ सूक्ष्मतरः सर्वकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महान्तश्च, अत एव पुरुषः सर्वपूरणात्। ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह— पुरुषान्न परं किञ्चिदिति। यस्मान्नास्ति पुरुषाच्चिन्मात्रघनात्परं किञ्चिदपि वस्त्वन्तरं, तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम्। अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः। अत एव च गन्तॄणां सर्वगतिमतां संसारिणां सा परा प्रकृष्टा गतिः। "यदगत्वा न निवर्तन्ते" (भ० गी० १५/६) इति स्मृतेः ॥११॥

ननु गतिश्चेदागत्याऽपि भवितव्यं, कथं "यस्माद्भूयो न जायत" इति। नैष दोषः।

सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते। प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धि-
परत्वेन। यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण। तथा च श्रुतिः—
"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णावः" इत्याद्या। तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य। एष

पृ णिच इष्टुच पारयिष्णु

संसारपारं गन्तार इत्यर्थः

आउ मे' हाथी बड़े जाती है! कीड़ा ऊपर तेरती है प्रकाश के बिपरीत दिशा में
 (ॐ) जो बने *Ants separate sugar from sand but not a wrestler.*

दृश + गिन् दृशिभिः
 ताच्छीकार्थे-

काठकोपनिषत् प्रथमाध्याय तृतीयवल्ली

संस्कृत - नाहं प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृतः

दृश्यते ^{एकग्रया} त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

अथ चिन्तन प्रकारः

विवेकी यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद्ज्ञान आत्मनि। बुद्धौ।

प्रथमजे

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

इन्द्रिय बुद्धि

यह आत्मा (किसी को आत्म रूप से) प्रकाशित नहीं होता है। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा मुख्य-
 संस्कृत और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है ॥१२॥

विवेकी पुरुष वाणी आदि सभी इन्द्रियों को मन में लीन करे, उस मन का प्रकाश स्वरूप बुद्धि को महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व को (निर्विशेष, निर्विकार सर्व बुद्धि के साक्षी) शान्त आत्मा में लीन करे ॥१३॥

पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माऽविद्यामायाछन्नोऽत एवाऽऽत्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित्। अहो! अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं, यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्य-
 नात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्य-
 मानोऽपि गृह्णाति। नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बभ्रमीति। तथा च स्मरणं-
 "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गी० ७/२५) इत्यादि। ननु विरुद्धमिदमुच्यते 'मत्वा धीरो न शोचति'। 'न प्रकाशते' इति च। नैतदेवम्। असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम्। दृश्यते तु संस्कृतयाऽग्रयाऽग्रमिवाग्रया तयैकाग्रतयोपेतयेत्येतत्सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया। कैः? सूक्ष्मदर्शिभिरिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मता-
 पारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥१२॥

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—

वे

अग्रयः "अग्रान् यत्"

यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेतप्राज्ञो विवेकी। किम्? वागवाचम्। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम्। क्व? मनसी मनसीति च्छान्दसं दैर्घ्यम्। तच्च मनो यच्छेद्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्ध्यावात्मनि। बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक्तेषाम्। ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत्। प्रथमजवत्स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञान-
 मापादयेदित्यर्थः। तं च महान्तमात्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्ये आत्मनि ॥१३॥

“शाच्योरन्यतरस्यां” शो = शा = शि।
 शो वनूकरणे, सावधान होने के लिये कहा = शूरस्य धारा, etc.,
 भक्ति etc., लक्ष्य = मार्ग से लगने के लिये।

36
 आत्मबोध के लिये प्रेरणा
 मिताक्षराहिन्दुव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
 प्रकृष्टान् आचार्यनि

तान निद्रात उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत, क्षुरस्य अवगच्छत,

धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

विशेष आत्म ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति।

(3) मेधाविनो -

एवता - अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमग- न क्षीयते अतो नित्यम-
 न व्ययति:

आत्मधावेन श्ववच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य, अवगम्य

तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥ अविद्या-काम-कर्म-लक्षणान्

अविद्यमानों का धर्म पथा के दब्जों दे।

(अरे! अनादि अविद्या में सोये हुए जीवो!) उठो, (सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूत अज्ञान निद्रा से) जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर (परमात्मतत्त्व को आत्मरूप से) अच्छी प्रकार जानो। जैसे पैनी की हुई छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी पुरुष उस मार्ग को वैसे ही दुष्प्राप्य बतलाते हैं ॥१४॥

ज्ञान के पथ कृपाण के धारा परते खगेश होता नही बारा, अर्क श्रेष्ठ पराशक्ति-रामा-
 पुरकि -

जो शब्द से रहित, स्पर्श से रहित, रूप तथा रस-हीन, नित्य एवं गन्ध रहित है, अतएव वह अविनाशी है। जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से भी परे (सर्वभूत साक्षी) और निश्चल है उस आत्मतत्त्व को अपरोक्ष रूप से जानकर जीव (अविद्या, काम और कर्म रूप) मृत्यु के पञ्जे से छूट जाता है ॥१५॥

विलसितं जृम्भिः अन्नं विनामे

एवं पुरुषे आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितं क्रिया-

कारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुग- अवतरण
 आरूप.

गनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थमनाद्य-

विद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत, हे जन्तवः! आत्मज्ञानाभिमुखा भवतु, जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत। कथम्? प्राप्योपगम्य वरान्प्रकृष्टानाचार्यास्तद्वि-
 दस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत। न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनु-
 कम्पयाऽऽह मातृवत्, अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य। किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्युच्यते। क्षुरस्य
 धाराऽग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया। यथा सा पद्भ्यां
 दुर्गमनीया तथा दुर्गदुःसंपाद्यमित्येतत्पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति
 ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥१४॥ असे, माघा, मेधा, सुजो
 विनिः मेधा-विनि

तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येत्युच्यते। स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूप-

रसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता, तथा शरीरम्। तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।

ब्राह्मणेभ्यः उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥ ^{ब्रह्मैव लोकः}
^{आचार्यः} ^{सनातनभूतः सन् उपास्यो भवति}

नाचिकेता द्वारा प्राप्त किये तथा मृत्यु से कहे हुए (इस तीन वल्ली वाले उपाख्यान रूप)
 सनातन विज्ञान को कह और ब्राह्मणों से सुनकर बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता
 है ॥१६॥

सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमबादिषु, यावदाकाशमिति, ते गन्धादयः ✓
 सर्वे एव स्थूलत्वादिकारणाः शब्दान्ता यत्र न सन्ति, किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं ✓
 व क्तव्यमित्येतद्दर्शयति श्रुतिः—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। एतद्व्याख्यातं ब्रह्मा-
 व्ययम्। यद्धि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं त्वशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च
 नित्यं यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्यतो नित्यम्। इतश्च नित्यमनाद्यविद्यमान आदिः
 कारणमस्य तदिदमनादि। यद्ध्यादिमत्तत्कार्यत्वादित्यं कारणे प्रलीयते, यथा पृथिव्यादि।
 इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत।
 तथाऽनन्तमुविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम्। यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्य-
 नित्यत्वं दृष्टं, न च तथाऽप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणोऽतोऽपि नित्यम्। महतो महत्तत्त्वादबुद्ध्याख्यात्परं
 विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वादब्रह्म। उक्तं ह्येष सर्वेषु
 भूतेष्वित्यादि। ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम्। तदेवंभूतं
 ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते जानकर
 वियुज्यते ॥१५॥ ^{उपाख्यानम् श्रुतस्यार्थस्मरणम्}

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—

नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं, मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यानमुपाख्यानं
 चिरन्तं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरन्तं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाऽऽचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव
 लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥१६॥ ^{उपाख्यानम् श्रुतस्यार्थस्मरणम्}

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि। प्रयतः शुचिर्भूत्वा
श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय
कल्पत इति॥१७॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता॥३॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥१॥

जो कोई पुरुष परम गोपनीय ग्रन्थ को पवित्र हो ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्धकाल में सुनता है, उसका वह श्राद्ध अनन्त फल वाला होता है॥१७॥

इति तृतीयवल्ली, प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥

इस प्रकार काठकोपनिषद् प्रथमाध्याय की श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी विद्यानन्द गिरि द्वारा कृत मिताक्षराहिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद्ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्राह्मणानां व
संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद्भुञ्जानानां तच्छ्राद्धम-
स्याऽऽनन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते। द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम्॥१७॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्॥३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्य-
श्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥१॥

विषयाद्भावतः

देह-इन्द्रिय के संयोग-विभोग को पाश कहते हैं ॥

80

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

ज्ञानी और अज्ञानी का अर्थ

अल्प प्रज्ञा : ध्रुव अविबेकी

गतिान्बाध पराचः कामाननुयन्ति बालोस्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य

न पशाम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह

न प्रार्थयन्ते ॥२॥

प्रत्यगात्मस्वरूपवस्थानलक्षणं ध्रुवम्

आत्म ज्ञानी को सर्वज्ञता ।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ।

एतद्वै तत् ॥३॥

आत्म द्वारा न जानने योग्य वस्तु इस प्रकार में क्या रह जाती है ।

अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे दौड़ते हैं, इसी से वे (अविद्या, काम, कर्म के समुदाय रूप) मृत्यु के विस्तृत पाश में पड़ जाते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष अन्तरात्मा के अमरत्व को निश्चल जानकर संसार के अनित्य पदार्थों में से किसी की इच्छा नहीं करते, (क्योंकि वे सब परमात्म दर्शन के विरोधी हैं) ॥२॥

जिस विज्ञान स्वरूप आत्मा के द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, और मैथुन सुखों को विस्पष्ट रूप से सब लोक जानता है (उस आत्मा से अविज्ञेय) इस लोक में क्या अन्य कोई रह सकता है? (तुझ नचिकेता का पूछा हुआ) वह तत्त्व निश्चयरूप से यही है ॥३॥

बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति। किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीराः प्रत्यगात्मानं पश्यतीत्युच्यते। अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मन इत्यर्थः ॥१॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वाद्वा च पराक्ष्वेवाविद्योपदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्या-तृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः पराचो बहिर्गतानेव कामान्काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति, बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाशयन्ते बध्यन्ते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयोग-वियोगलक्षणम् । अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यत एवमथ तस्माद्धीराः विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (बृ० ४/४/२३) इति ध्रुवम् । तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाऽध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्येषु निर्धार्य ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किञ्चिदपि, प्रत्यगात्मदर्शन-प्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः ॥२॥

यद्विज्ञानान्न किञ्चिदन्यत्प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगम इति । उच्यते—

अमृतत्वं ध्रुवं विदित्वा, देवादिमृतत्वं ह्यध्रुवमिदं न प्रत्यगात्मस्वरूपावस्था-नलक्षणं ध्रुवम्

आत्मबोध शोक का नाशक है।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। दृश्यतां, देखता है।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

आत्मज्ञान की निश्चयता।

कर्म फल भोक्ता जीव य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। अभेदेन समीपात्

जिसके द्वारा मनुष्य स्वप्न में प्रतीत होने वाले तथा जाग्रत में दीखने वाले दानों प्रकार के पदार्थों को देखता है। उस महान् और व्यापक आत्मा को (आत्मरूप से) प्रत्यक्ष अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥४॥

जो पुरुष इस कर्म फल के भोक्ता और (प्राणादि समुदाय को धारण करने वाले) आत्मा को सान्निध्यमात्र से भूत, भविष्यत् और वर्तमान के शासक रूप में जानता है। (वह वैसे

येन विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्मिथुननिमित्तान्सुख-
प्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः। ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्याऽऽत्मना ✓
देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति। देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो ✓
लोकोऽवगच्छति। न त्वेवम्। देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च ✓
न युक्तं विज्ञातृत्वम्। यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः संरूपादीन्विजानीयाद्बाह्या ✓
अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः। न चैतदस्ति। तस्माद्देहादिलक्षणांश्च ✓
रूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना विजानाति लोकः। यथा येन ✓
लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत्। आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परिशिष्यते, न ✓
किञ्चित्परिशिष्यते, स आत्मा सर्वज्ञः। एतद्वै तत्। किं तद्यन्नचिकेतसा पृष्ठं देवादिभिरपि ✓
विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद्विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥३॥

अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—

स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः। तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं
जागरितविज्ञेयं च। उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येनाऽऽत्मनाऽनुपश्यति लोक इति सर्व
पूर्ववत्। तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वाऽवगम्याऽऽत्मभावेन साक्षादहमस्मि परमात्मेति धीरो न
शोचति ॥४॥

विबुधं भवति अस्मात् = विभु प्र-वि शम् विभुर्वापकः

“विप्रसयम्भो दु असंजायाम्” अ + दु विभुम्

किञ्च— ए२म्भो भुवो दुः स्थानं तु संजायाम्

यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारमात्मानं
वेद विजानात्यन्तिकादन्तिके समीप ईशानमीशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य, ततस्तद्विज्ञाना-

पायितुं इच्छति। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥५॥
 ब्रह्म यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत। गुहां पञ्चीकृतं पञ्चभूतेभ्यः
 प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत्। एतद्वै तत् ॥६॥ पश्यति।
 कार्यकारण लक्षणैः तिष्ठन्तेम्
 ब्रह्मणः या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य अदन्तम् अदितिः
 तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत्। एतद्वै तत् ॥७॥ उत्पन्ना

विज्ञान के) बाद उस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। निश्चय वही यह (आत्मतत्त्व) है ॥५॥

जो मुमुक्षु जल आदि भूतों की अपेक्षा पहले उत्पन्न हुए ज्ञान रूप तप से पैदा होने वाले (हिरण्यगर्भ) को भूतों के सहित बुद्धि रूपी गुफा में स्थित हुआ देखता है, वही उस ब्रह्म को देखता है। निश्चय वही यह ब्रह्म है ॥६॥

जो सर्वदेवस्वरूपा अदिति हिरण्यगर्भरूप से परब्रह्म से उत्पन्न होती है और बुद्धि रूप गुफा से प्रवेश कर रहने वाली है तथा भूतों के साथ ही उत्पन्न है, (उसी को देखो) निश्चय वही यह तत्त्व है ॥७॥

✓ दूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुमिच्छत्यभयप्राप्तत्वात्। यावद्भि भयमध्यस्थोऽनित्य-
 मात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम्। यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं
 ✓ कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेदेतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥५॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः, स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति—

यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं
 हिरण्यगर्भम्। किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न
 केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः। अजायत, उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य
 सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्य-
 कारणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत् यः पश्यतीत्येतत्। य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति
 यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥६॥

किञ्च—

या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः

अरणि रथ अग्नि मे ब्रह्म इति

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।

दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्ये-

भिरग्निः । एतद्वै तत् ॥८॥

अप्रयत्नैः आज्ञादिमहिः ; ध्यानभावनावहः ;
कर्मभिः प्राजकैः स्तुत्यः ; योगिभिः बन्धः ;प्राण मे ब्रह्म इति (३)
प्राणात्मानं, प्राणात्

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।

तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन

एतद्वै तत् ॥९॥

अग्नि आदि अधिदैव, वागादि अध्यात्म.

जैसे गर्भिणी स्त्रियों के (शुद्ध अन्नपानादि से अपने) गर्भ की अच्छी प्रकार रक्षा की जाती है वैसे ही (अधियज्ञ रूप से) जो अग्नि दोनों अरणियों के बीच स्थित है तथा प्रमादशून्य कर्म परायण होम सामग्री से युक्त याजकों और ध्यान भावना युक्त योगियों द्वारा यज्ञ एवं हृदय देश में नित्यप्रति स्तुति किये जाने योग्य है, यही वह ब्रह्म है ॥८॥

जहाँ से (नित्य प्रति) सूर्य उदित होता है और जिसमें वह अस्त होता है। उस प्राणात्मा में (स्थिति के समय अग्नि आदि अधिदैव और वागादि अध्यात्म) सभी देवता अर्पित हैं, उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता, वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है ॥९॥

किञ्च तौ य मन्त्रापाम्

सम्भवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद्गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम् । तामेव विशिनष्टि—या भूतेभिर्भूतैः समन्विता व्यजायत, उत्पन्नेत्येतत् ॥७॥

किञ्च—

ज्ञान भावना युक्त योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताऽध्यात्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिरन्तर्वलीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथाअग्निद्वित गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इतीत्यमेव त्विगिभर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत् । किञ्च दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो बन्धश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिर्जागरण-शीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतद्भविष्मद्भिराज्यादिमद्भिर्ध्यानभावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैरग्निरेतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म ॥८॥

किञ्च—

यतश्च यस्मात्प्राणादुदेत्युत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्नोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति, तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदैवं वागादयश्चाध्यात्मं सर्वे

४४
देह इह की निन्दा।

यदेवेह

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह मृत्योः स ब्रह्म
मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन। अणुमात्र मपि
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

जो इस (देह इन्द्रिय संघात रूप लोक) में भास रहा है, वही ब्रह्म अन्यत्र (इस देहादि से परे नित्य विज्ञानघन रूप) भी है, तथा जो अन्यत्र है वही इस संघात में है। (ऐसा होने पर भी) जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बारम्बार जन्मता मरता है ॥१०॥

मन से ही यह (एकरस ब्रह्म) प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्व में नानात्व अणुमात्र कुछ भी नहीं है। जो पुरुष (अविद्या रूप तिमिर दोषदृष्टि को न त्याग कर) इसमें नानात्व सा देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥११॥

विश्वेऽरा इव रथनाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थितिकाले। सोऽपि ब्रह्मैव। तदेतत्सर्वात्मकं
ब्रह्म। तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि। एतद्वै
तत् ॥१॥

यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं, तत्तदुपाधिकत्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्यन्यत्पर- जीव
स्मादब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्केतीदमाह—

यदेवेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं सर्वसंसारधर्मवर्जितं संसारधर्मवदवभासमान-
मविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म।
यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिमनु विभाव्यमानं नान्यत्।
तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणयाऽविद्यया मोहितः सन्य इह ब्रह्मण्यनानाभूते
परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युपलभते, स मृत्योर्मरणान्मरणं
मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते। तस्मात्तथा न पश्येत्। विज्ञानैकरसं
नैरन्तर्येणाऽऽकाशवत्परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येदिति वाक्यार्थः ॥१०॥

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन मनसेदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यमात्मैव नान्य-
दस्तीति। आप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना

हृदयस्थितिः

"ईश्वर सर्वभूतानां"

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानं

भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥१२॥ गोपायितुं इच्छे

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो

भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वै तत् ॥१३॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।

जो अङ्गुष्ठ परिमाण पुरुष (अङ्गुष्ठ मात्र परिमाण वाले हृदय कमल के) मध्य में स्थित है उसे भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का शासक समझ कर ज्ञानी पुरुष अपने शरीर रक्षा की इच्छा नहीं करता। निश्चय यही वह ब्रह्मतत्त्व है ॥१२॥

यह अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष धूम रहित ज्योति के समान है। यह भूत, भविष्यत् का शासक है यही आज है और यही कल भी रहेगा। निश्चय ही वह यही ब्रह्मतत्त्व है ॥१३॥

जैसे ऊँचे पर्वतीय स्थान में बरसा हुआ जल पर्वतीय निम्न प्रदेशों में (फैलकर) नष्ट हो

नास्ति किञ्चनानुमात्रमपि। यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुञ्चतीह ब्रह्मणि नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन्नित्यर्थः ॥११॥

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माऽऽह—

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः। अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तः—
करणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवृंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत्। पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति।
मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानमीशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत् ॥१२॥

किञ्च—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात्। यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स एव नित्यः कूटस्थोऽद्योदानीं प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः। अनेन "नायमस्तीति चैक" इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च ॥१३॥ refuted. खण्डित.

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मणः आह—

यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छिन्ने वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्ववत्सु निम्नप्रदेशेषु

उसके अधीन में सब में (3) शोधित गृह जो जो हवरा करई कर्म पथ लाग।
जोदी, भनेउ, संनध्यावनन, गंधत्री जाप.

४६

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

आत्मनो भिन्नान्
भेद

एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥१४॥

4/10/51
R51
भेद को प्राप्त करता है!

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।

एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

आत्मानुष्ठान में धन, वस्त्र, सहायता की आवश्यकता नहीं है, मीरा के विवाह में फेर के

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता ॥१॥ (४) समय भी -
- कृष्ण का प्रतिमा साथ रूकी है!

जाता है, वैसे ही आत्माओं को (प्रत्येक शरीर में) पृथक्-पृथक् देखकर जीव उन्हीं को (बारम्बार शरीर भेद को) प्राप्त होता है ॥१४॥

जैसे स्वच्छ जल में डाला हुआ स्वच्छ जल (मिलकर) वैसा ही स्वच्छ हो जाता है।
हे गौतम! एकत्व आत्मदर्शी पुरुष का आत्मा भी वैसा ही हो जाता है ॥१५॥

विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति, एवं धर्मानात्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथगेव प्रतिशरीरं
पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति। शरीरभेदमेव पृथक्पुनः पुनः प्रतिपद्यत
इत्यर्थः ॥१४॥

✓ यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानधनैकरसमद्व-
✓ यमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्याऽऽत्मस्वरूपं कथं भवतित्युच्यते —

यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा,
तादृगेव भवत्यात्माऽप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य, हे गौतम।
तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा
वेदेनोपदिष्टमात्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरादरणीयमित्यर्थः ॥१५॥

प्रकर
कवी

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदा-
चार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं
समाप्तम् ॥१॥ (४)

॥ २ आह्निकम् ॥

"साद् पदादयोः" प्रतिषेधति (इह न पदादौ) आदेश प्रत्ययोः इति षत्वम्
 सस्य षत्वं न स्यात् ॥ १ ॥ सात् प्रत्ययस्य पदादेशः षत्वं न
 सिद्धिः (क्षरणे) धातोः पः प्रः ॥ इति षत्वम् ॥ तस्य "अदेशः" इति षत्वे
 शोचिय विप्रवेद विहीना तन्निज धर्म विषय ज्ञेय लीना प्राप्ते अनेन निषेधः
 शोचिय मति प्रयच्छत विगत विवेक विरागः
 प्रकारान्तर से ब्रह्म चिन्तनः अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्ली अकटिल प्रकाश, नित्य
 विज्ञान एक रूप विज्ञान
 वाहनः पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः अनुष्ठाय न

शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते एतद्वै तत् ॥ १ ॥
 आत्मा की सर्वरूपता
 गच्छति हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्बोता वेदिषदतिथि-
 मः सन् कलशे सीदति
 नित्य रूपसे
 दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा
 नित्य रूपसे
 ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥
 नदी
 निजालावधन
 गेहान् सर्वकारणत्वात्

जन्मादि विकार रहित उस नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा का (पुर के समान होने से यह शरीर रूप) पुर ग्यारह दरवाजों वाला है। ऐसे आत्मा का सम्यक् ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान कर पुरुष शोक नहीं करता है और वह इस शरीर के रहते हुए ही अविद्याकृत काम और कर्म के बन्धनों से सर्वथा जीवन्मुक्त हुआ ही विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

वह गमन कर्ता होने से हंस है, आकाश में सूर्य रूप से चलने के कारण शुचिषत् है। व्यापक होने से वसु है। वायु रूप से आकाश में चलने के कारण अन्तरिक्षसत् है। वेदी (पृथिवी) में स्थित होने से होता (अग्नि) है, कलश में स्थित अतिथि (सोम) है, या अतिथि रूप से घर में आने के कारण वह अतिथि दुरोणसत् कहलाता है। (ऐसे ही वह) मनुष्यों में गमन करने वाला नृषत् कहलाता है। देवताओं में गमनशील वरसत् है। सत् या यज्ञ में जाने से वह ऋतसत्

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो, दुर्विज्ञेयत्वादब्रह्मणः—

पुरं पुरमिव पुरम् । द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसंपत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम् ।
 पुरं च सोपकरणं स्वात्मनाऽसंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम् । तथेदं पुरसामान्यादनेकोप-
 करणसंहतं शरीरं स्वात्मनाऽसंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति । तच्चेदं शरीराख्यं
 पुरमेकादशद्वारमेकादशद्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्च त्रीणि शिरस्येकं
 तैरेकादशद्वारं पुरं, कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्याऽऽत्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्म-
 विलक्षणस्य । अवक्रचेतसोऽवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो
 विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः । यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं
 पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम् । तं सर्वेषणाविनिर्मुक्तः
 सन्समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः शोकावसराभावात्कुतो
 भयेक्षा । इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति । विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं
 न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥ ईहा = "गुरोश्च हलः" इति अप्. ईहा + ३५.

स तु नैकशरीरपुरवर्त्येवाऽऽत्मा, किं तर्हि सर्वपुरवर्ती । कथम्—

हंसो हन्ति गच्छतीति, शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदतीति । वसुर्वासयति वि-अ
 "शरीरावयवात् यत्" शिरस् + प्रत्. "य च तद्धिते" शीर्षण + प्र. = शीर्षण्य.
 शिरस् स्थाने शीर्षण आदेशः "तद्धिते" का अपवाद ॥ १ ॥ एचभावकर्मणोः प्रकृतिभावः

जिन हरि भक्ति हृदय नही आनि। जीवत शव सब चोदह प्राणी।
 बी कौन कामवश, कृपन, विमुटा। अति दरिद्र, अजसी, अतिबुडा ॥ ill fame.
 सदा रोग वश, संतत क्रोधी, विष्णु विमुख, श्रुति सेत विरोधी ॥

४८
 (४) अष्टम बोध में लिङ्ग। अथ ज्ञानी जीवत शव सब चोदह प्राणी
 मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।-

- मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥३॥ संभजनीयं
 - चक्षुशदयः

कहा जाता है। आकाश में चलने से व्योमसत् है। जल में शङ्खुदि रूप से रहने के कारण अब्जा और पृथिवी में यवादि रूप से उत्पन्न होने के कारण गोजा कहा गया है। यज्ञान्नरूप से उत्पन्न ऋतजा है और नदी आदि रूप में पर्वतों से उत्पन्न होने के कारण अद्रिजा है। त्रिकालाबाध्य होने से सत्यरूप और सबका कारण होने से महान् है ॥२॥

(जो हृदय देश से) प्राण वृत्ति को ऊपर की ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर धकेलता है; हृदय कमल में रहने वाले उस सम्भजनीय की सभी देव उपासना करते हैं ॥३॥

२. आत्मानः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमाह हृदयाकाशे न तु मास पिण्डे.
 आत्मा स्याजी = समुद्रका ध्वजांग कैसे आत्मा = वायुयुग होने से
 = स्वरूप को कैसे निगल गया आत्मा. कारण में कार्य.

सर्वानिति। वाय्वात्मनाऽन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होताऽग्निः, "अग्निर्वै होते" ति श्रुतेः। वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत्, "इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" (ऋ. सं. २/३/२०) इत्यादिमन्त्रवर्णात्। अतिथिः सोमः सन्द्रोणे कलशे सीदतीति दुरोणसत्। ब्राह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति। नृषन्तृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्। वरसद्वरेषु देवेषु सीदतीति। ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति। व्योमसद्व्योम्याकाशे सीदतीति व्योमसत्।

- ✓ अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति। गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायते इति। ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति। अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति। सर्वात्माऽपि सन्नृतमवितथस्वभाव एव। बृहन्महान्सर्वकारणत्वात्। यदाऽप्यादित्यः एव मन्त्रेणोच्यते, तदाऽप्यस्याऽऽत्मस्वरूपत्वमादित्यस्याङ्गी (त्यस्येत्यङ्गी) कृतत्वादब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः। सर्वव्याप्येक एवाऽऽत्मा जगतो नाऽऽत्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥२॥

✓ आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—

ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति। तथाऽपानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः। तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाशे आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशं वामनं संभजनीयं विश्वे सर्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विशः इव राजानमुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः। यदर्थं यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥३॥

प्रेरक.
 आत्म के लिपे दी.

आत्मा ही जीवन है।

वियोग.

विमुच्यमानस्य

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः। जीवन्त्मा,
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत् ॥४॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

संहत प्राणादि विलक्षणेन

इस शरीरस्थ देही आत्मा के भ्रष्ट हो जाने पर इस प्रणादि समुदाय में क्या शेष रह जाता है? अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहता। यही वह ब्रह्म है ॥४॥

कोई भी देहधारी मानव न तो प्राण से न अपान से ही जीता है, किन्तु जिसमें ये दोनों अश्रित हैं ऐसे किसी अन्य से ही जीवित रहते हैं ॥५॥

किञ्च—

अस्य शरीरस्थस्याऽऽत्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः। विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति। किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे न किञ्चन परिशिष्यतेऽत्र देहे पुरस्वामिनो विद्रवण इव पुरवासिनां यस्याऽऽत्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः ॥४॥

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमादेवेदं विध्वस्तं भवति न तु तदव्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणा-
दिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति। नैतदस्ति—

न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति। न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते। सर्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके, तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति। अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति। यस्मिन्संहतविलक्षणे आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्तस्ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥५॥

५०
ब्रह्म के बाद जीव की गति

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।

अदृष्टं स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥७॥

उद्धृष्ट ब्रह्म का उपदेश। कृष्ण प्रमवाजुन शास्त्र विमोचन वासना जो प्रवृत्ति का कारण है।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मि-

माणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। अविनाशी
शुद्ध
भावपुत्र बाणपुर - अहंकारवश = मुख्य भाग - पुच्छ उपक्रम - उपा का देनी स्वप्न में अनिरुद्धता
है गौतम! अब मैं तुम्हें फिर भी इस गोपनीय सनातन ब्रह्म को अच्छी प्रकार बतलाऊंगा, दिखाया

तथा (ब्रह्म को न जानने से) मरकर आत्मा जैसा होता है वैसा ही मैं बतलाऊंगा ॥६॥

(अज्ञानी देहाभिमानि) अपने कर्म और चिन्तन के अनुरूप कितने ही शरीर धारण करने के लिये किसी योनि में चले जाते हैं और कुछ लोग स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं ॥७॥

प्राण आदि के सो जाने पर (अविद्या के बल से स्त्री आदि) अपने अपने अभीष्ट पदार्थों की रचना करता हुआ जो यह जागता रहता है वही शुद्ध है वह ब्रह्म है और वही (सभी शास्त्रों

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यमिदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरंतनं प्रवक्ष्यामि।
यद्विज्ञानात्सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथाऽऽत्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु, हे गौतम! ॥६॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिदविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः, योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः। स्थाणुं वृक्षादिस्था-
✓ वरभावमन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति। यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म
✓ यैर्यादृशं कर्मैह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत्। तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं वासना,
✓ तदनु रूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। "यथाप्रज्ञं हि संभवाः" (ऐ० आ० २/३/२) इति श्रुत्यन्तरात् ॥७॥ ० स्थेश भासपिसकसो वरच. 3-2-175.
एष स्थावरः, ईश्वरः, आस्वरः, पेखरः, कस्वरः।

यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह—

य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति। कथम्? कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्रयाद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयज्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं

④ "अपनी बुद्धिजनित वासना के अनुरूप ही जन्म होता है।"

अश्रिताः तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।

एतद्वै तत् ॥८॥

उपाधि के अनुरूप आत्मा अग्नि का अपना रूप नहीं इन्धन का रूप वैसे ही आत्मा उपाधि के अनुरूप आकाश के समान अविकारी

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो

बहिश्च ॥९॥

में) अमृत कहा जाता है। उसमें ही पृथिव्यादि सम्पूर्ण लोक अश्रित हैं। उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही वह ब्रह्म है ॥८॥

जैसे एक ही प्रकाशस्वरूप अग्नि सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ काष्ठादि भिन्न-भिन्न दाह्य पदार्थ के अनुरूप हो जाता है, वैसे ही एक ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा उनके रूप के अनुरूप हो रहा है तथा (आकाश के समान अपने अविकारी रूप से उनसे) बारह भी है ॥९॥

तद्ब्रह्म नान्यद्गुह्यं ब्रह्मास्ति। तदेवामृतमविनाश्युच्यते सर्वशास्त्रेषु। किञ्च पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य। तदु नात्येति कश्चनेत्यादि पूर्ववदेव ॥८॥

अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमध्यात्मैकत्वविज्ञान-
मसकृदुच्यमानमृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाऽऽधीयते इति तत्प्रतिपादने आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—

अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टोऽनुप्रविष्टः। रूपं रूपं प्रति दावादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः। प्रतिरूपस्तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव। एक एव, तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्माऽतिसूक्ष्मत्वाद्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेनाविकृतेन [स्व] रूपेणाऽऽकाशवत् ॥९॥

[उपपत्ति]

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो
बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो

✓ बहिश्च ॥१०॥

आत्मा की असंगतता

[उपपत्ति]

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषै-
र्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते
लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

जैसे एक ही वायु प्राण रूप से इस लोक (देह) में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है। वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक ही प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है ॥१०॥

जैसे (अपने प्रकाश से लोक का उपकार करता हुआ) सूर्य सम्पूर्ण लोक का नेत्र होकर भी अध्यात्मिक पाप दोष तथा अपवित्र पदार्थों के संसर्ग से होने वाले नेत्र सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक ही (भ्रमजन्य) संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता, बल्कि (रज्जु आदि के समान भ्रमबुद्धि जन्य अध्यास से) बाहर हो रहता है ॥११॥

तथाऽन्यो दृष्टान्तः—

वायुर्यथैक इत्यादि। प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति स-
(वेत्यादि स) मानम् ॥१०॥

✓ * एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते—

✓ सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः
✓ सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः
पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः। एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन
बाह्यः। लोको ह्यविद्यया स्वात्मन्यध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखमनुभवति। न तु सा परमार्थतः
स्वात्मनि। यथा रज्जुशुक्तिकोषरगनेषु सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो

✓ ऊपर मरुभूमि नमकवाली भूमि।

आत्मज्ञानी के निरूप सुख

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः

आचार्योपदेशानन्तरं करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥ काम अकृत सुख अपने बहुत नाही।

अ० २ पा० २

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो

ब्रह्मादीनां

जो एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा अपने एक विशुद्ध विज्ञान स्वरूप को ही अनेक प्रकार से कर लेता है। अपनी बुद्धि में चैतन्य रूप से अभिव्यक्त उस आत्मदेव को जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख होता है; अन्य को नहीं ॥१२॥

जो अनित्य पदार्थों में नित्य ब्रह्मादि चेतन प्राणियों का भी चेतन है और जो अकेला ही (सङ्कल्प मात्र से सांसारिक) अनेकों की कामनाएँ पूर्ण करता है, जो धीर पुरुष अपनी बुद्धि

दुरुषः दोषरूपाणि सन्ति। संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्तोदोषवद्विभाव्यन्ते। न तदोषैस्तेषां तदुदोषैः लेपो विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि ते। तथाऽऽत्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति न त्वात्मा सर्वलोकात्माऽपि सन्विपरीताधारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन। कुतः? बाह्यः। रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति ॥११॥

किञ्च—

अधिष्ठान विपरीत बुद्धि अन्य अध्यास से बाहर ही तो है! जगत्, स्वप्न, सुषुप्ति

स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वाऽन्योऽस्ति। वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते। कुतः? सर्वभूतान्तरात्मा। यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधाऽनेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात्। तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तमित्येतत्। न हि शरीरस्याऽऽधारत्वमात्मनः, आकाशवदमूर्तत्वात्। आदर्शस्थं मुखमिति यद्वत्। तमेतमीश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं भवति नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात् ॥१२॥

किञ्च—

नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम्। चेतनश्चेतनानां चेतयितृणां ब्रह्मादीनां प्राणिनामग्निनिमित्तमिव दाहकत्वमग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वम-

⊕ न व्यावहारिक विषयों में सुख है। न प्राविभासिक विषयों में सुख है। (उत्तर)
 सुख में फिर भी सुख प्राप्ति। इसीलिए विषयों में सुख नहीं।
 ५४ सज्जी छीनने का वाक्य से हुआ नहीं होगा। विषयों में अपने वाक्य
 मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता मन से नहीं उनका दर्शन।

अनायासेन
 effortless
 realization
 Retentive

विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति
 धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

10/8/10

विवेकी. तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्। कथं नु

ब्रह्म की सर्व प्रकाशिता

तद्विजानीयां किमु भाति, विभाति वा ॥१४॥

प्रत्यक्ष. बुद्धि का विषय होकर प्रकाशित
 या नहीं.

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो
 भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
 तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

⊕

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥२॥ (५)

अन्धेरे कमर से बाहर का लाइट वा नडाई देखना प्रकाश में ① Signal के पास खरों
 में स्थित चैतन्य आत्मा को देखते हैं, उन्हीं को नित्य शाश्वत शान्ति मिलती है, औरों को
 नहीं ॥१३॥
 विषय गत देश में चैतन्य है। प्रसाद गत चैतन्य के साथ एकता होना विषय गत
 प्रत्यक्ष.

उस इस (आत्म विज्ञान) को ही (प्राकृत पुरुषों के) मन वाणी के अविषय, परम सुख
 विवेकी मानते हैं, उसे मैं कैसे जान सकूंगा। क्या वह (हमारी बुद्धि का विषय होकर)
 प्रकाशित होता है या नहीं ॥१४॥

वहाँ (आत्मस्वरूप ब्रह्म में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा तारे वहाँ प्रकाशित नहीं
 होते और यह विद्युत् भी नहीं चमकती है तो फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके
 प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है तथा उसके प्रकाश से ही यह सब भासता
 है ॥१५॥

॥ इति द्वितीयवल्ली ॥

न्येषाम्। किंच स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि
 स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्य एको बहूनामनेकेषामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत्।
 तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिरुपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव
 स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम् ॥१३॥
 उदासीनता, विषयभोग से विरक्ति.

यत्तदात्मविज्ञानं सुखमनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृतपुरुषवाङ्-
 मनसयोरगोचरमपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते, कथं नु केन

प्रकारेण तत्सुखमहं विजानीयाम् । इदमित्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणाप्राप्तकरो
यतयः । किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति
विस्पष्टं दृश्यते किंवा नेति ॥१४॥

अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति । कथम्?—

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्योऽतद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । ॥१४॥
तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्गोचरोऽग्निः । किं
बहुना यदिदमादित्यादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । यथा
जलोल्लुमुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनु दहति न स्वतस्तद्वत् । तस्यैव भासा
दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति । यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च । कार्यगतेन
विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं
भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम् । घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासनरूपाणां चाऽऽदित्यादीनां
तद्दर्शनात् ॥१५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदा-

चार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये

द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥२॥ (५)

इह = मूल (कारण) सारः

विद्याकामकर्म = बीज.

रण्यगर्भ = अंकुर.

प्राणि = स्कन्ध = शाखा.

वृक्षाः = अलम्बक.

मूलः = कोमलपत्रे

⑦ क्षुत् स्मृति न्यायः = पलाश पत्रे.

⑧ मूल, दान, क्रिया मूल्यः

⑨ सुख, दुःख = रस.

⑩ पुष्पः फल ⑪ लोक = नीड घासने.

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयावल्ली

संसार वृक्षोऽव्ययः

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।

सारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँ- अविनाशी.

ल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।

एतद्वै तत् ॥१॥

संसार वृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँ- अविनाशी.

जिसका मूल (व्यापक परमात्मा के परमपदरूप) ऊपर की ओर तथा (देव, नर, तिर्यगादि शरीररूप) शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष अनादि होने से सनातन है। वही (संसार वृक्ष का मूल कारण चैतन्य आत्म-स्वभाव) विशुद्ध ज्योति स्वरूप है। वही ब्रह्म और वही अमृत कहा जाता है। उसी ब्रह्म में सभी लोक (शुक्तिरजत की भाँति) आश्रित हैं उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता, निश्चय यही वह ब्रह्म है ॥१॥

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथैवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावधारयिष्येयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते—

ऊर्ध्वमूलः ऊर्ध्वं मूलं यत्तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः

✓ संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः। वृक्षश्च वृक्षनात्। जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः

✓ प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवददृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च

वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्व-

✓ विजिज्ञासुभिरनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबी-

जप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेद-

स्कन्धस्तत्तृष्णाजलासेकोदभूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्याय-

विद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः प्राण्युपजी-

व्यानन्तफलस्तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलो-

कब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोदभूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वे-

लितास्फोटितहसिताकृष्टरुदितहाहामुञ्जमुञ्जेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो

वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवा-

तेरितनित्यप्रचलितस्वभावः। स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिरवाक्शाखः।

सनातनोऽनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः। यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं

ज्योतिष्मच्चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्। तदेवामृतमविनाश-

स्वभावमुच्यते कथ्यते सत्यत्वात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतमन्यदतो मर्त्यम्।

"अनुत्रयिकृत्युपिभ्यः कित्" अस्य कित्वात् "गृहिण्या..." इति संप्रसारणत्

① वृक्ष + मूल "छेद्यत्वात् अणवपि वृक्षः" इति संयोगाद्योरन्ये च "इति

लो ३ क ४ अ ② अस्य षष्ठे च 'वृक्ष' रूपर धातोः सि को प ③ योः कुः" इति कुबम्

परमेश्वर के ज्ञान से मोक्ष।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राणे एजति, निःसृतम्।

महद्भयं वज्रमुद्यतं ये एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

परमेश्वर सबको शाश्वत है। यः = जिहु, अद केवल स्थूल शरीर में, सूक्ष्म में नहीं; अण्डमा में नहीं।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३॥

वाकर दूत अनल गिरिजा धनका में विभीषण का घर नहीं जाता। होतिका जाती, प्रह्लाद नहीं जाता।

यह जो कुछ जगत् है, वह सब प्राणरूप ब्रह्म से प्रकट होकर (नियम से) चेष्टा कर रहा है। वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्र के समान है। (अपने अन्तःकरण की प्रत्येक प्रवृत्ति के साक्षीभूत) इस ब्रह्म को जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥२॥

इस (परमेश्वर) के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तप रहा है तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु (नियम से) दौड़ता है ॥३॥

तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्तिस्थितिलयेषु। तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः। एतद्वै तत् ॥१॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत् एवेदं निःसृतमिति; तन्न। यदिदं किञ्च यत्किंचेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते। यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम्। महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम्। वज्रमुद्यतमुद्यतमिव वज्रम्। यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते, तथेदं चन्द्रादित्यग्रह-नक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणमप्यविश्रान्तं वर्तते इत्युक्तं भवति। ये एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥२॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तते इत्याह—

भयाद्धीत्याऽस्य परमेश्वरस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यो, भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥३॥

इन्द्र ज्ञान के बिना देहान्तर की प्राप्ति निश्चित है।

मिताक्षरा हिन्दी व्याख्यान संवलिता इन्द्र भाष्ययुता

पतनात्

इह चेदशकद्वोद्धं प्राक्शरीरस्य विस्त्रसः। आदर्शस्थस्येव मुख्यस्य -
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥ पृथिव्यादयो लोकाः

यथाऽऽदर्शं तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। निर्मलीभूतस्वप्नो -

यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातप- कर्मफलपभोगासक्तवत्

योरिव ब्रह्मलोके ॥५॥ दुष्प्राप - No mediator.

यदि इस (जीवित शरीर) में नाश से पूर्व ही (इन सूर्यादि के भय हेतुभूत) ब्रह्म को न जान सका, तो उन जन्म-मरणादिशील लोकों में वह शरीर धारण कर लेता है। (अतः मरने से पूर्व आत्मा को जानकर संसार बन्धन से मुक्त हो जाना चाहिये) ॥४॥

जैसे दर्पण में (प्रतिबिम्बित अपने मुख को स्पष्ट देखता है) वैसे ही निर्मल बुद्धि में (आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है) तथा जैसे स्वप्न में (जाग्रद्वासना से उद्भूत दृश्य को अस्पष्ट देखता है) वैसे ही पितृलोक में। जैसे जल में, वैसे ही गन्धर्व लोक में भी (अस्पष्ट रूप से आत्मा का दर्शन होता है, किन्तु) ब्रह्मलोक में तो छाया और प्रकाश की भाँति अत्यन्त स्पष्ट रूप से आत्मदर्शन होता है। (अतः इस मनुष्य लोक में ही आत्मदर्शन के लिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि यह प्राप्त है, ब्रह्मलोक तो दुष्प्राप्य है) ॥५॥

तच्चेह जीवन्नेव चेद्यद्यशकच्छक्नोति शक्तः सज्जानात्येतद्भयकारणं ब्रह्म बोद्धु-
मवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्त्रसोऽवस्त्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्विमुच्यते। न चेदशकद्वोद्धं
ततोऽनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु
लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः। तस्माच्छरीर-
विस्त्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥४॥

यस्मादिहैवाऽऽत्मनो दर्शनमादर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्म-
लोकादन्यत्र। स च दुष्प्रापः। कथमित्युच्यते—

यथाऽऽदर्शं प्रतिबिम्बभूतमात्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं, तथेहाऽऽत्मनि
स्वबुद्ध्यावादर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः। यथा स्वप्नेऽविविक्तं
जाग्रद्वासनोद्भूतं, तथा पितृलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः कर्मफलपभोगासक्तत्वात्। यथा
चाप्स्वविभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव
दर्शनमात्मनः। एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते। छायातपयोरिव अत्यन्तविविक्तं
ब्रह्मलोके एवैकस्मिन्। स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात्। तस्मादात्मदर्शनायेहैव
यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥५॥

आत्मज्ञान का साधन और प्रयोजन

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।

पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥ विवेकी

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्। बुद्धिः

सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥ महत्तत्त्व, ईश्वर

(संसार धर्म रहित) अव्यक्तात् परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। जानने वाला बुद्ध्यादि नहीं

यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥ अनिरुप-
आचार्यतः शास्त्रतः प्रादुरभावः

(अपने कारण के गुण को ग्रहण करने के लिये आकाशादि भूतों से) पृथक्-प्रथक् उत्पन्न होने वाली श्रोत्रादि इन्द्रियों का आत्मवैलक्षण्यरूप पृथक् भाव को तथा उनके उत्पत्ति और प्रलय को जानकर विवेकशील पुरुष शोक नहीं करता (क्योंकि नित्य चैतन्य स्वभाव आत्मा का किसी भी अवस्था में व्यभिचार नहीं होता) ॥६॥

इन्द्रियों से पर (उत्कृष्ट) मन है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से श्रेष्ठ महत्तत्त्व है और महत्तत्त्व से उत्तम अव्यक्त है ॥७॥

अव्यक्त से भी श्रेष्ठ पुरुष है (वह आकाशादि का कारण होने से) व्यापक है (तथा सर्व-संसारधर्मरहित होने से) अलिङ्ग ही है। जिसे आचार्य एवं शास्त्र द्वारा जानकर जीवन्मुक्त हो जाता है और वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है ॥८॥

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः ✓
पृथगुत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात्केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविल-
क्षणात्मकतां, तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया ✓
नाऽऽत्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति। आत्मनो नित्यैकस्व-
भावस्याव्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपपत्तेः। तथा च श्रुत्यन्तरं "तरति शोकमात्मवित्"
(छां० ७/१/३) इति ॥६॥

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधिगन्तव्यो, यस्मात्प्रत्यगात्मा स ✓
सर्वस्य, तत्कथमित्युच्यते—

इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि। अर्थानामिहेन्द्रियसमाज्ञातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव
ग्रहणम्। पूर्ववदन्यत्। सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥७॥

अव्यक्तात् परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात्।
अलिङ्गो लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं, बुद्ध्यादि, तदविद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव।

न संदृशे^१ तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति सर्वेन्द्रियेण
बुद्ध्या कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाऽभिवक्लृप्तो य मनन, अधिप्रकाशितः
एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥
मनीषा मनोऽन्विकल्पिक बुद्ध्या

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । ज्ञानेन्द्रियानि,
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥ चेष्टा नदीकसी

इस प्रत्यगात्मा का रूप दृष्टि में स्थिर नहीं होता । अतः इसे कोई नेत्र से नहीं देख सकता, यह आत्मा तो संकल्पादिरूप मन की नियामिका हृदयस्थ बुद्धि द्वारा मननरूप यथार्थ-दर्शन से प्रकाशित होता है । इस रूप में इसे जो जानते हैं; वे अमर हो जाते हैं ॥९॥

जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (आत्मा में) स्थिर हो जाती हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को ही परम गति कहते हैं ॥१०॥

सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् । यं ज्ञात्वाऽऽचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुरविद्या-
दिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति । सौऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात्पुरुष इति पूर्वैव सम्बन्धः ॥८॥

कथं तर्हीलिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यत इत्युच्यते—

न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम् । अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात् । पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिदप्येनं प्रकृतमात्मानम् । कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते । हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या । मनीषा मनसः संकल्पा-
दिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीषा, तथा हृदा मनीषाऽविकल्पयित्र्या । मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन । अभिवक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः । तमात्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

सा हन्मनीट्कथं प्राप्यते इति तदर्थो योग उच्यते—

यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्य निर्वर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि, ज्ञानार्थत्वा-
च्छ्रोत्रादीन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते, अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि तेन सङ्कल्पादिव्या-
वृत्तेनान्तःकरणेन । बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते, तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणम्।
तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥ वृद्धि विलय.

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

उस अचल इन्द्रिय धारण को ही योगी लोग योग कहते हैं। उस समय (चित्त समाधान के लिए) साधक प्रमादरहित हो जाता है, क्योंकि योग ही प्रभव और अप्यय रूप है अर्थात् प्रमाद छोड़ने से कैवल्य का प्रादुर्भाव और प्रमाद करने से परमार्थ का नाश हो जाता है ॥११॥

वह आत्मा न तो वाणी से, न तो मन से, न नेत्र से (और न अन्य इन्द्रियों से ही प्राप्त किया जा सकता है); वह आत्मा है, इस प्रकार कहने वाले (शास्त्रानुसारी श्रद्धालु आस्तिक) पुरुषों से भिन्न नास्तिकों को कैसे वह उपलब्ध हो सकता है? अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता ॥१२॥

तामीदृशीमवस्थां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम्। सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणम्।
हीयमवस्था योगिनः। एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याध्यारोपणवर्जितः स्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा।
स्थिरामिन्द्रियधारणां स्थिरामचलामिन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः। अप्रमत्तः
प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति
सामर्थ्यादवगम्यते। नहि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति। तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टो-
परमादप्रमादो विधीयते। अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा, तदानीमेव निरङ्कुशमप्र-
मत्तत्त्वमित्यतोऽभिधीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति। कुतः? योगो हि यस्मात्प्रभवाप्ययावुपजना-
पायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥११॥

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद्ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च
ग्रहणकारणाभावादनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म। यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं
लोके, विपरीतं चासदित्यतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं
प्राप्ते इदमुच्यते।

सत्यम्—

नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः। तथाऽपि

अध्यास

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति ॥ १३ ॥ अधिमुखी भवति.
सोपान्तिक, बाह्यस्यिक, प्रोणाचार्य, वै आधिक.

वह आत्मा है, इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिये और तत्त्वरूप से उसे जानना चाहिये (सोपाधिक अस्तित्व और निरुपाधिक तत्त्वरूप) इन दोनों में से जिसे पहले उसकी अस्ति-भाव से उपलब्धि हुई है, उसी को तत्त्व रूप से भी साक्षात्कार होता है ॥ १३ ॥

- ✓ सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलमित्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वात् ।
- ✓ तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सदबुद्धिनिष्ठामेवावगमयति । यदाऽपि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदाऽपि सा सत्प्रत्ययगर्भेव विलीयते । बुद्धिर्हि नः
- ✓ प्रमाणं सदसतोऽर्थथात्म्यावगमे । मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्यते, न त्वेतदस्ति, सत्सदित्येव तु गृह्यते । यथा मृदादिकार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम् । तस्माज्जगतो
- ✓ मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यः । कस्मात् ? अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्धधानादन्यत्र नास्तित्ववादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते, न कथंचनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

तस्मादपोह्या^३सद्वादिपक्षमा^२सुरमस्तीत्येवा^१ऽऽत्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधिः ।

- ✓ यदा तु तद्विहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति (छा० ६/१/४) श्रुतेस्तदा तस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्याऽऽत्मनस्तत्त्वभावो भवति । तेन च रूपेणाऽऽत्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते । तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः । निर्धारणार्था षष्ठी । पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्याऽऽत्मनः सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्येत्यर्थः । पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावो "नेति नेति" (बृ० २/३/६) इति "अस्थूलमनण्वहस्वम्" (बृ० ३/८/८) "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (तै० २/७/१) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदत्यभि-
मुखी भवति । आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत् ॥ १३ ॥

रीर रक्षित "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (तै० २/७/१) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदत्यभि-
मुखी भवति । आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत् ॥ १३ ॥

अमरत्व प्राप्त की प्रप्ति

काठकोपनिषत् द्वितीयाध्याय तृतीयवल्ली "जहो राम वद काम न हो" प्रज हति मदा कामान सर्वान् ६३

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह बुद्धौ ग्रन्थयः । विनश्यन्ति अविद्याप्रत्ययः

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

साधक के हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं, वे सब की सब (प्रारब्ध से भिन्न) जब छूट जाती हैं; उस समय (आत्मसाक्षात्कार से पूर्व अपने को) मरणशील मानने वाला पुरुष अमर हो जाता है और इसी वर्तमान शरीर से ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

जिस समय इस वर्तमान जीवन में ही हृदय की अविद्याजन्य सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, उस समय मरणधर्मा अमर हो जाता है। बस, इतना ही सम्पूर्ण वेदान्तों का अनुशासन है (इससे अधिक आदेश नहीं है) ॥ १५ ॥

एवं परमार्थदर्शिनो यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्यान्यस्या-
भावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते, येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः । बुद्धिर्हि वैशेषिक मत खण्डन
कामानामाश्रयो, नाऽऽत्मा ॥ "कामः सङ्कल्पः" (बृ० १/५/३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च । अथ
तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधादासीत्स प्रबोधोत्तरकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशा-
दमृतो भवति, गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशादगमनानुपपत्तेरत्रैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्ध-
नोपशमाद्ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते— वासना = इष्टा = कामना = तृष्णा ।
अर्थात् निःसृत । विकृतत्वम् ।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो
ग्रन्थिवद्दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी
चाहमित्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद्ब्रह्मैवाहमस्म्यसंसारिति विनष्टेष्व-
विद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतन्मात्रं
नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या । अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्वे वेदान्तानामिति
वाक्यशेषः ॥ १५ ॥ परिहृतस्य परिहारः ; प्राप्तस्य प्राप्तिः ।

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
ब्रह्मविद्यास्तुति के लिये म-६ ब्रह्मविद्या के मर्ग बताया -

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम-
भिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्व-

ङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥१६॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां
हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मु-

पुरुष के हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से मूर्धा को भेदकर बाहर की ओर निकलने वाली सुषुम्ना नाड़ी है, उसके द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला जीव सूर्य मार्ग से आपेक्षिक अमरत्व को प्राप्त करता है। इससे भिन्न विविध गति वाली नाड़ियाँ संसार प्राप्ति के लिये होती हैं ॥१६॥

अङ्गुष्ठ मात्र, अन्तरात्मा सदा जीवों के हृदय में स्थित है उसे धैर्यपूर्वक मूँज से सीक

- निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव
ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यते इत्युक्तम् "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्युक्तत्वात् "न तस्य प्राणा
उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव स ब्रह्माप्येति" (बृ० ४/४/६) इति श्रुत्यन्तराच्च। ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो
विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो, ये च तद्विपरीताः संसारभाजस्तेषामेष गतिविशेष
उच्यते, प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये। किञ्चान्यदग्निविद्या पृष्ठा प्रत्युक्ता च। तस्याश्च
फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः। तत्र—

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयादभिनिःसृता नाड्यः
शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाऽभिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम। तयाऽन्तकाले हृदये
आत्मानं वशीकृत्य योजयेत्। तथा नाड्योर्ध्वमुपर्यायन्नाच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वम-
मरणधर्मत्वमापेक्षिकम्। "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" (वि० पु० २/८/१७)
इति स्मृतेः। ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान् ब्रह्म-
लोकगतान्। विष्वङ् नानाविधगतयोऽन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रतिपत्त्यर्था
एव भवन्तीत्यर्थः॥१६॥

इदानीं सर्ववर्ल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये संनिविष्टो
यथाव्याख्यातस्तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेदुद्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृथक्कुर्यादित्यर्थः। किमिवेत्युच्यते।

उज्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं
तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

कन

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां
योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभू-
द्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

की भाँति अपने शरीर से पृथक् करे। (शरीर से पृथक् किये हुए) उस आत्मा को विशुद्ध और
अमृतमय समझे, उसे शुद्ध और अमर समझे ॥१७॥

मृत्यु की कही हुई पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योग विधि को प्राप्त कर नचिकेता
मुक्त हो गया। वह धर्माधर्म रूपी रज से रहित तथा अविद्या एवं काम से छूट गया। जो कोई
दूसरा व्यक्ति भी अध्यात्मतत्त्व को इस प्रकार जानेगा; वह भी नचिकेता की भाँति ब्रह्मप्राप्ति द्वारा
मृत्यु से छूट जायेगा ॥१८॥

मुज्जादिवेषीकामन्तस्थां धैर्येणाप्रमादेन। तं शरीरान्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजा-
नीयाच्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति। द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमिति शब्दश्च ॥१७॥

विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्याधिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते—

मृत्युप्रोक्तां यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं
सफलमित्येतत्। नचिकेतो वरप्रदानान्मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः। किम्? ब्रह्मप्राप्तोऽ-
भून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः। कथम्? विद्याप्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्युर्विगत-
कामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः। न केवलं नचिकेत एवान्योऽपि नचिकेतवदात्मविदध्यात्ममेव
निरुपचरितं प्रत्यक्सवरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः। नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम्। तदेवमध्या-
त्ममेवमुक्तप्रकारेण यो वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि विरजः सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति
वाक्यशेषः ॥१८॥

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोषप्रशमनार्थं यं
शान्तिरुच्यते—

अध्यास का सम्भावनाये.
 ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान
 इति काठकोपनिषद् द्वितीयोऽध्यायः तृतीया वल्ली
 समाप्ता ॥३॥ (६) अधिष्ठान का विशेष अध्ययन.
 इति काठकोपनिषद् द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥
 पूर्ववत् ॥११॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवा-

वहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥११॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान

इति काठकोपनिषद् द्वितीयोऽध्यायः तृतीया वल्ली

समाप्ता ॥३॥ (६)

इति काठकोपनिषद् द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

पूर्ववत् ॥११॥

॥ इति तृतीया वल्ली समाप्ता ॥

इस प्रकार काठकोपनिषद् द्वितीयाध्याय की श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्य श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि द्वारा कृत मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

सह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन । कः ? स एव परमेश्वर उपनिष-
 त्प्रकाशितः । किञ्च सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पालयतु । सहैवाऽऽवां विद्याकृतं
 वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै । किञ्च तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्दधीतं
 तत्स्वधीतमस्तु । अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्त्वित्यर्थः ।
 मा विद्विषावहै शिष्याचार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तम् द्वेषं मा
 करवावहौ इत्यर्थः । शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति निर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्यो-
 मिति ॥११॥

इति काठकोपनिषद् द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली

समाप्ता ॥३॥ (६)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य

श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद् द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

॥ ३ आह्निकम् ॥

(4) अथर्व वेदीय ब्राह्मणोपनिषद्: पञ्च. मुण्डकशाखा: १-२-५. १-२-५.
 उपनिषद्: - इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो ॥ अहिक ॥ १-२-५.
 भस्मिन्नेताः षोडश कणाः प्रभवन्ति ६-२. ३-५-६
 कल ॥ ते वेद्यं पुरुषं वेदं यथा मावो मृत्पुपरिबन्ध इति. ६-६.
 उपनिषद्: - तदच्छायं अशरीरं ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।
 अतो हितं शुभं अक्षरं
 वेदयते यस्तु सोम्य स
 सर्वज्ञः सर्वो भवति. ५-१०.
प्रश्नोपनिषत्
 भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता
 ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । यज + अत्र.
 स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाधंसस्तनूभिः । व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ अग्निहोत्रम्.
 सुकेशा आदि ॥ (उपनिषद् तुष नक् ययु. to fill completely.)
 ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।
 ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः
 कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते
 ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं ३५ क्र ५
 वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥१॥
 भावः— हे देवताओ! (आपकी कृपा से) हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्दों को सुनें।
 आँखों से कल्याणप्रद दृश्य देखें। वैदिक यागादिक कर्म में हम समर्थ होवें तथा दृढ़ अवयवों
 और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग केवल देवताओं के हित मात्र के लिए जीवन धारण
 करें। (5)
 त्रिविध ताप की शान्ति हो।
 भारद्वाज का पुत्र सुकेशा, शिबि का पुत्र सत्यकाम, सूर्य का पौत्र गर्गगोत्रोत्पन्न गार्ग्य,
 अश्वल का पुत्र कौसल्य, भृगु गोत्र में उत्पन्न विदर्भ देश का रहने वाला वैदर्भी, कत्य का प्रपौत्र
 कबन्धी; ये सब अपर ब्रह्म की उपासना में लगे हुए थे एवं तदनुकूल अनुष्ठान में तत्पर थे
 सभी ऋषि परब्रह्म का अन्वेषण करते हुए भगवान् पिप्पलाद के पास इस विचार से गये कि
 ये ऋषि परब्रह्म के विषय में सब कुछ हमें बतला देंगे। सभी ने हाथ में समिधा ली हुई थी
 अर्थात् विधिवत् ब्रह्मविद्या के लिए गुरु के निकट गए ॥१॥
॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम् ॥
 मन्त्रोक्तस्यार्थस्य विस्तरानुवादीदं ब्राह्मणमारभ्यते। ऋषिप्रश्नप्रतिवचनाख्यायिका तु
 विद्यास्तुतय, एवं संवत्सरब्रह्मचर्यसंवासादियुक्तैस्तपोयुक्तैर्ग्राह्या पिप्पलादादिवत्सर्वज्ञ-
 कल्पैराचार्यैर्वक्तव्या च। न सा येन केनचिदिति विद्यां स्तौति। ब्रह्मचर्यादिसाधनसूचनाच्च

पद्मपादार्चनं मना करने पर भी (ब्रह्मचर्य) ध्याना कष्ट और (कताब भी ले गए) मिला और (कताब) पढ़ा दिया और बुद्धिमान् के लिये देवा भी दिये।

२

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया
संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि
विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥२॥

[प्रजा उत्पत्ति का कारण]

कर्म का प्ररोध

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ।

भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥३॥

इस प्रकार उन आए हुए ऋषियों से महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि तुम तपस्या, इन्द्रिय संयम रूप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त हो गुरुशुश्रूषापूर्वक एक वर्ष ठहरो फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि मैं उसे जानता होऊँगा तो तुम्हें सब बतला दूँगा ॥२॥

एक वर्ष गुरुकुल वास करने के बाद कात्यायन कबन्धी ने पिप्पलाद महर्षि के पास जाकर पूछा— 'हे भगवन्! (ब्राह्मणादि) ये सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती हैं' ॥३॥

✓ तत्कर्तव्यता स्यात्। सुकेशा च नामतः। भरद्वाजस्यापत्यं भारद्वाजः। शैब्यश्च शिबेरपत्यं शैब्यः सत्यकामो नामतः। सौर्यायणी सूर्यस्यापत्यं सौर्यस्तस्यापत्यं सौर्यायणिश्छान्दसः सौर्यायणीति। गाग्यो गर्गगोत्रोत्पन्नः। कौसल्यश्च नामतोऽश्वलस्यापत्यमाश्वलायनः। भार्गवो भृगोर्गोत्रापत्यं भार्गवः। वैदर्भिविदर्भे भवः। कबन्धी नामतः। कत्य (त?) स्यापत्यं कात्यायनः। विद्यमानः प्रपितामहो यस्य सः युवप्रत्ययः, ते हैते ब्रह्मपरा अपरं ब्रह्म परत्वेन गतास्तदनुष्ठाननिष्ठाश्च ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मन्वेष्टमाणाः, किं तत्। यन्नित्यं विज्ञेयमिति तत्प्राप्त्यर्थं यथाकामं यतिष्यामः इत्येवं तदन्वेषणं कुर्वन्तस्तदधिगमायैष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीत्याचार्यमुपजग्मुः। कथम्? ते ह समित्पाणयः समिद्भारगृहीतहस्ताः सन्तो भगवन्तं पूजावन्तं पिप्पलादमाचार्यमुपसन्ना उपजग्मुः ॥१॥

तानेवमुपगतान्ह स किल ऋषिरुवाच भूयः पुनरेव यद्यपि यूयं पूर्वं तपस्विन एव
✓ तपसेन्द्रियसंयमेन तथाऽपीह विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया चाऽऽस्तिक्यबुद्ध्याऽऽदरवन्तः
✓ संवत्सरं कालं संवत्स्यथ सम्यगगुरुशुश्रूषापराः सन्तो वत्स्यथ। ततो यथाकामं यो यस्य कामस्तमनतिक्रम्य यथाकामं यद्विषये यस्य जिज्ञासा तद्विषयान्प्रश्नान्पृच्छत। यदि तद्युष्मत्पृष्टं
✓ विज्ञास्यामः। अनुद्धतत्वप्रदर्शनार्थो यदिशब्दो नाज्ञानसंशयार्थः प्रश्ननिर्णयादवसीयते। सर्वं ह वो वः पृष्टं वक्ष्याम इति ॥२॥ सर्वं युक्तं नहीं

कात्यायन

अथ संवत्सरादूर्ध्वं कबन्धी कात्यायन उपेत्योपगम्य पप्रच्छ पृष्टवान्। हे

प्रश्नोपनिषत् प्रथमः प्रश्नः
[पञ्चापति से सर्वप्रथम रयि और प्राण की उत्पत्ति-]

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽ- रयिं अग्निं
तप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च अन्नं प्राणं
प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥४॥ स्वर्पे

आदित्यो ह वै प्राणो, रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एत-

त्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥५॥

उस कबन्धी (कात्यायन) से उस पिप्पलाद महर्षि ने कहा— प्रसिद्ध है कि प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा वाले प्रजापति ने (पूर्वकल्पीय ज्ञान का स्मरणरूप) तप किया। उसने पूर्वोक्त तप करके सृष्टि के साधनभूत रयि और प्राण रूप जोड़े को उत्पन्न किया। (यह सोचकर कि) ये दोनों ही मेरी नाना प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करेंगे ॥४॥

निश्चय आदित्य ही प्राण (भोक्ता अग्नि) है और रयि ही चन्द्रमा है। यह सब जो स्थूल और सूक्ष्म है, वह मूर्त तथा अमूर्त (भोक्ता भोग्य रूप होने पर भी) रयि ही है। अतः मूर्ति ही रयि है ॥५॥

विसर्गे सृज = ष = क

भगवन्कृतः कस्माद्ध वा इमा ब्राह्मणाद्याः प्रजाः प्रजायन्त उत्पद्यन्ते। अपरविद्याकर्मणोः समुच्चितयोर्यत्कार्यं या गतिस्तद्वक्तव्यमिति तदर्थोऽयं प्रश्नः ॥३॥

शंका तस्मा एवं पृष्ठवते स होवाच। तदपाकरणायाऽऽह। प्रजाकामः प्रजा आत्मनः सिसृक्षुर्वै प्रजापतिः सर्वात्मा सञ्जगत्स्वक्ष्यामीत्येवं विज्ञानवान्यथोक्तकारी तद्भावभावितः कल्पादौ निर्वृत्तो हिरण्यगर्भः सृज्यमानानां प्रजानां स्थावरजङ्गमानां पतिः सञ्जन्मान्तरभावितं ज्ञानं श्रुतिप्रकाशितार्थविषयं तपोऽन्वालोचयदतप्यत। अथ तु स एवं तपस्तप्त्वा श्रौतं ज्ञानमन्वालोच्य सृष्टिसाधनभूतं मिथुनमुत्पादयते मिथुनं द्वन्द्वमुत्पादितवान्। रयिं च सोममन्नं प्राणं चाग्निमत्तारमेतावगनीषोमावत्त्रन्नभूतौ मे मम बहुधाऽनेकधा प्रजाः करिष्यतः इत्येवं संचिन्त्याण्डोत्पत्तिक्रमेण सूर्याचन्द्रमसावकल्पयत् ॥४॥

तत्राऽऽदित्यो ह वै प्राणोऽत्ताग्निः ॥ रयिरेव चन्द्रमाः। रयिरेवान्नं सोम एव। तदेतदेकमत्ता चान्नं च प्रजापतिरेकं तु मिथुनम्। गुणप्रधानकृतो भेदः। कथम्? रयिर्वा अन्नं वा एतत्सर्वं किं तद्यन्मूर्तं च स्थूलं चामूर्तं च सूक्ष्मं च मूर्तामूर्ते अत्रन्नरूपे रयिरेव। तस्मात्प्रविभक्तादमूर्ताद्यदन्यन्मूर्तरूपं मूर्तिः सैव रयिरमूर्तेनाद्यमानत्वात् ॥५॥

अथाऽऽदित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति
तेन प्राच्यान्प्राणान्श्मिषु संनिधत्ते । यदक्षिणां
यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो
यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान्श्मिषु संनिधत्ते ॥६॥

सं निवेशयति
धारण कर लेता

भोक्ता स एष वैश्वानरो विश्वरूपः, प्राणोऽग्निरुदयते ।
तदेतदृचाऽभ्युक्तम् ॥ ७॥

जिस समय उदय होकर सूर्य पूर्व दिशा में प्रवेश करता है, तो उससे वह पूर्व दिशा के प्राणों को (सर्वत्र व्याप्त किरणों में होने के कारण) अपनी किरणों में प्रविष्ट कर लेता है (उन्हें आत्मभूत कर लेता है) । इसी प्रकार जब वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और अवान्तर सभी दिशाओं को प्रकाशित करता है तो उससे भी वह उन सबके प्राणों को अपनी किरणों में धारण कर लेता है ॥६॥

वह यह (भोक्ता) वैश्वानर विश्वरूप (होने के कारण) प्राण और अग्नि रूप हो प्रकट होता है । यही बात मन्त्र द्वारा भी कही गयी है ॥७॥

तथाऽमूर्तोऽपि प्राणोऽन्ता सर्वमेव यच्चाऽऽद्यम् । कथम्—? भोज्य.

अथाऽऽदित्य उदयनुदगच्छन्प्राणिनां चक्षुर्गोचरमागच्छन्त्यत्प्राचीं दिशं स्वप्रकाशेन प्रविशति व्याप्नोति । तेन स्वात्मव्याप्त्या सर्वास्तत्स्थान्प्राणान्प्राच्यानन्तर्भूतान्श्मिषु स्वात्मावभासरूपेषु व्याप्तिमत्सु व्याप्तत्वात्प्राणिनः संनिधत्ते संनिवेशयति, आत्मभूतान्करोतीत्यर्थः । तथैव यत्प्रविशति दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीमध ऊर्ध्वं यत्प्रविशति

यच्चान्तरा दिशः कोणदिशोऽवान्तरदिशो यच्चान्यत्सर्वं प्रकाशयति तेन स्वप्रकाशव्याप्त्या
सर्वान्सर्वदिक्स्थान्प्राणान्श्मिषु संनिधत्ते ॥६॥

स एषोऽन्ता प्राणो वैश्वानरः सर्वात्मा विश्वरूपो विश्वात्मत्वाच्च प्राणोऽग्निश्च स

एवात्तोदयत उदगच्छति प्रत्यहं सर्वा दिश आत्मसात्कुर्वन् । तदेतदुक्तं वस्तु ऋचा मन्त्रेणाप्यभ्युक्तम् ॥७॥

④ अहिं होत्रं तपः सव्य वेदानां चानुपासनम् अतश्च वेदो देवश्च इष्टमयम् वापी कुप तडागदि देवतायतनानि च अन्नाप्रादानमारामः पुनर्मित्रमिच्छीते ॥

प्रश्नोपनिषत् प्रथमः प्रश्नः

सूर्यः-

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

[सम्बत्सरादि में प्रजापति आदि को इष्टि]

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते। ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥९॥

सर्वरूप, किरण वाला, ज्ञान से सम्पन्न सम्पूर्ण प्राणों का आश्रय, ज्योति स्वरूप, अद्वितीय और तपते हुए सूर्य को (ब्रह्मवेत्ताओं ने अपने आत्म स्वरूप से जाना है)। यह सूर्य अनेकों किरणों वाला, अनेकों प्रकार से वर्तमान तथा प्रजाओं के प्राणरूप से उदित होता है ॥८॥

सम्बत्सर रूप काल ही प्रजापति है, उसके दक्षिण और उत्तर (छः-छः मास वाले प्रसिद्ध) दो अयन हैं। जो लोग इष्टापूर्त रूप केवल कर्म मार्ग का अवलम्बन करते हैं, वे (मिथुनात्मक प्रजापति के अंश अन्न रूप) चन्द्रलोक पर ही विजय पाते हैं और वे ही पुनः पुनः (उत्तमाधम योनियों में) आवागमन को प्राप्त होते हैं। अतः ये प्रजा चाहने वाले गृहस्थ ऋषि लोग दक्षिण-मार्गोपलक्षित चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जो पितृयाण है, वही रयि है ॥९॥

विश्वरूपं सर्वरूपं हरिणं रश्मिवन्तं जातवेदसं जातप्रज्ञानं परायणं सर्वप्राणाश्रयं ज्योतिरेकं सर्वप्राणिनां चक्षुर्भूतमद्वितीयं तपन्तं तापक्रियां कुर्वाणं स्वात्मानं सूर्यं सूरयो विज्ञातवन्तो ब्रह्मविदः। कोऽसौ यं विज्ञातवन्तः। सहस्ररश्मिरनेकरश्मिः शतधाऽनेकधा प्राणिभेदेन वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

यश्चासौ चन्द्रमा मूर्तिरन्नमूर्तिश्च प्राणोऽत्ताऽऽदित्यस्तदेकमेतन्मिथुनं सर्वं कथं प्रजा करिष्यत इति, उच्यते—

तदेव कालः संवत्सरो वै प्रजापतिस्तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य। चन्द्रादित्यनिर्वर्त्य-तिथ्यहोरात्रसमुदायो हि संवत्सरस्तदनन्यत्वाद्भयिप्राणमिथुनात्मक एवेत्युच्यते, तत्कथम्, तस्य संवत्सरस्य प्रजापतेरयने मार्गो द्वौ दक्षिणं चोत्तरं च। द्वे प्रसिद्धे हायने षणमासलक्षणे याभ्यां

इन्द्रियजयेन

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्य-
याऽऽत्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते । एतद्वै
प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न
पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥१०॥

तथा इन्द्रिय संयमरूप तप, दृढ़ ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और प्रजापति तादात्म्यरूप विद्या द्वारा आत्मा को खोज कर उत्तरायण से सूर्यलोक को प्राप्त होते हैं। निश्चय यही सम्पूर्ण प्राणों का सामान्य आयतन है, यही अमृत है, यही भय रहित है और यही समुच्चय अनुष्ठान करने वालों की परागति है, इससे फिर लौटते नहीं। अतः अविद्वानों के लिए यह निरोध स्थान है। (क्योंकि वे आदित्यमण्डल को भेद कर ऊपर नहीं जा सकते) इस विषय में अग्रिम मन्त्र प्रसिद्ध है ॥१०॥

दक्षिणेनोत्तरेण च याति सविता केवलकर्मिणां ज्ञानसंयुक्तकर्मवतां च लोकान्विदधत् कथं? तत् तत्र च ब्राह्मणादिषु ये ह वै तदुपासत इति, क्रियाविशेषणो द्वितीयस्तच्छब्दः। इष्टं च पूर्णं चेष्टापूर्णे इत्यादि कृतमेवोपासते नाकृतं नित्यं, ते चान्द्रमसं चन्द्रमसि भवं प्रजापतेर्मिथुनात्मकस्यांशं रयिमन्नभूतं लोकमभिजयन्ते कृतरूपत्वाच्चान्द्रमसस्य ते तत्रैव च कृतक्षयात्पुनरावर्तन्ते "इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ती" (मु० उ० १/२/१०) ति ह्युक्तम्। यस्मादेवं प्रजापतिमन्नात्मकं फलत्वेनाभिनिर्वर्तयन्ति चन्द्रमिष्टापूर्तकर्मणैते ऋषयः स्वर्गद्वारः प्रजाकामाः प्रजार्थिनो गृहस्थास्तस्मात्स्वकृतमेव दक्षिणं दक्षिणायनोपलक्षितं चन्द्रं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिरन्नं यः पितृयाणः पितृयाणोपलक्षितश्चन्द्रः ॥१॥

अथोत्तरेणायनेन प्रजापतेरंशं प्राणमत्तारमादित्यमभिजयन्ते। केन? तपसेन्द्रियजयेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया च-प्रजापत्यात्मविषययाऽऽत्मानं प्राणं सूर्य जगतस्तस्थुषश्चान्विष्याहमस्मीति विदित्वाऽऽदित्यमभिजयन्तेऽभिप्राप्नुवन्ति। एतद्वा आयतनं सर्वप्राणानां सामान्यमायतनमाश्रयमे (ए) तदमृतमविनाशि, अभयमत एव भयवर्जितं न चन्द्रवत्क्षयवृद्धिभयवदेतत्परायणं परा गतिर्विद्यावतां कर्मिणां च ज्ञानवतामेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते, यथेतरे केवलकर्मिण इति। यस्मादेषोऽविदुषां निरोध, आदित्याद्धि निरुद्धा अविद्वान्सो नैते संवत्सरमादित्यमात्मानं प्राणमभिप्राप्नुवन्ति। स हि संवत्सरः कालात्माऽविदुषां निरोधः। तत्तत्रास्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रः ॥१०॥

5 अतः

[आदित्य स्वो विधाने]

कालः

पञ्चपादं पितरं, द्वादशाकृतिं दिव आहुः, परे मासा

द्युलोकात्परे स्वर्गे

अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विच-उदकवन्तम्

क्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥ सप्तद्वयरूपेण चक्रे

मासादि में प्रजापति आदि की इष्टि

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव

रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल

इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

काल के रहस्य जानने वाले अन्य विद्वान् इस आदित्य को पाँच (ऋतु रूप) पैरों वाला सबका पिता, बारह मास रूप आकृतियों वाला पुरीषी (जल वाला) और द्युलोक से ऊपर स्वर्गलोक में स्थित बतलाते हैं। तथा ये अन्य कालज्ञ पुरुष उसी को सर्वज्ञ एवं सात चक्र और उसी छः ऋतु रूप अरे वाले में इस जगत् को विशिष्ट बतलाते हैं ॥ ११ ॥

मास ही पूर्वोक्त प्रजापति है, उस मास रूप प्रजापति का कृष्ण पक्ष ही रयि है, शुक्ल पक्ष प्राण है। इसलिये ये प्राण उपासक ऋषिगण शुक्ल पक्ष में यज्ञ किया करते हैं, अर्थात् कृष्ण पक्ष को भी वे शुक्ल पक्ष समझते हैं तथा दूसरे ऋषि (शुक्ल पक्ष में) यज्ञ करते हुए भी कृष्ण पक्ष में यज्ञ करते हैं ॥ १२ ॥

पञ्चपादं पञ्चर्तवः पादा इवास्य संवत्सरात्मन आदित्यस्य, तैरसौ पादैरिवर्तुभिरावर्तते। हेमन्तशिशिरावेकीकृत्येयं कल्पना। पितरं सर्वस्य जनयितृत्वात्पितृत्वं तस्य, तं द्वादशाकृतिं द्वादश मासा आकृतयोऽवयवा आकरणं वाऽवयविकरणमस्य द्वादशमासैस्तं द्वादशाकृतिं दिवो द्युलोकात्परे ऊर्ध्वेऽर्धे स्थाने तृतीयस्यां दिव्येत्यर्थः। पुरीषिणं पुरीषवन्तमुदकवन्तमाहुः कालविदः। अथ तमेवान्यै इमं उ परे कालविदो विचक्षणं निपुणं सर्वज्ञं सप्तचक्रे सप्तद्वयरूपेण चक्रे सततं गतिमिति कालात्मनि षडरे षडृतुमित्याहुः सर्वमिदं जगत्कथयन्ति। अर्पितमरा इव रथनाभौ निविष्टमिति। यदि पञ्चपादो द्वादशाकृतिर्यदि वा सप्तचक्रः षडरः सर्वथाऽपि संवत्सरः कालात्मा प्रजापतिश्चन्द्रादित्यलक्षणोऽपि जगतः कारणम् ॥ ११ ॥

यस्मिन्निदं श्रितं विश्वं स एव प्रजापतिः संवत्सराख्यः स्वावयवे मासे कृत्स्नः परिसमाप्यते। मासो वै प्रजापतिर्यथोक्तलक्षण एव मिथुनात्मकस्तस्य मासात्मनः प्रजापतेरेको भागः कृष्णपक्षोरयिरन्नं चन्द्रमाः अपरो भागः शुक्लः शुक्लपक्षः प्राण आदित्योऽन्ताऽग्निर्यस्मा-

मिताक्षराहिन्दुव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
मास रूप प्रजापति का दिनरात्रि मे संयुज्यन्ते

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव

रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या

कश्यप + अश्विनि
राक्षसों का
जन्म

संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥१३॥

उपन मे प्रजापति इति

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मा-

दिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥

निश्चय ही दिन-रात भी प्रजापति है, उनमें दिन ही प्राण है और रात्रि ही रयि है। जो लोग (मूर्खतावश) दिन में रति स्वरूपा स्त्री से संयुक्त होते हैं वे निश्चय ही प्राण की हानि करते हैं तथा जो ऋतु काल में रात्रि के समय रति से संयुक्त होते हैं वह उनका ब्रह्मचर्य ही है। (अतः प्रशस्त होने के कारण ऋतु काल में ही रात्रि के समय स्त्री गमन का प्रासंगिक विधान है) ॥१३॥

अन्न ही प्रजापति है (उसी से प्रजा का कारण रूप) वह वीर्य होता है और उस वीर्य से ही यह (मनुष्यादि रूप सम्पूर्ण) प्रजा उत्पन्न होती है ॥१४॥

✓ चक्षुःपक्षात्मानं प्राणं सर्वमेव पश्यन्ति तस्मात्प्राणदर्शिन एत ऋषयः कृष्णपक्षेऽपीष्टं यागं
✓ कुर्वन्तः शुक्लपक्ष एव कुर्वन्ति प्राणव्यतिरेकेण कृष्णपक्षस्तैर्न दृश्यते यस्मादितरे तु प्राणं न पश्यन्तीत्यदर्शनलक्षणं कृष्णात्मानमेव पश्यन्ति। इतरे इतरस्मिन्कृष्णपक्ष एव कुर्वन्ति शुक्ले कुर्वन्तोऽपि ॥१२॥

सोऽपि मासात्मा प्रजापतिः स्वावयवेऽहोरात्रे परिसमाप्यते। अहोरात्रो वै प्रजापतिः पूर्ववत्। तस्याप्यहरेव प्राणोऽत्ताऽग्नी रात्रिरेव रयिः पूर्ववत्, प्राणमहरात्मानं वा एते प्रस्कन्दन्ति निर्गमयन्ति शोषयन्ति वा स्वात्मनो विच्छिद्यापनयन्ति। के? ये दिवाऽहनि रत्या रति कारणभूतया सह स्त्रिया संयुज्यन्ते। मैथुनमाचरन्ति मूढाः। यत एवं तस्मात्तन्न कर्तव्यमिति प्रतिषेधः प्रासङ्गिकः। यद्रात्रौ संयुज्यन्ते रत्या ऋतौ ब्रह्मचर्यमेव तदिति प्रशस्तत्वादृतौ भार्यागमनं कर्तव्यमिति। अयमपि प्रासङ्गिको विधिः। प्रकृतं तूच्यते, सोऽहोरात्रात्मकः प्रजापतिर्वीहियवाद्यन्नात्मना व्यवस्थितः ॥१३॥

✓ एवं क्रमेण परिणम्य तदन्नं वै प्रजापतिः। कथम्? ततस्तस्माद्भव वै रेतो नृबीजं तत्प्रजाकारणं तस्माद्योषिति सिक्तादिमा मनुष्यादिलक्षणाः प्रजाः प्रजायन्ते, यत्पृष्ठं कुतो ह वै प्रजाः प्रजायन्त इति। तदेवं चन्द्रादित्यमिथुनादिक्रमेणाहोरात्रान्तेनान्नासृग्रेतोद्वारेणेमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति निर्णीतम् ॥१४॥

④ मोहि कपट ~~हृदय~~ हृदय (हृदय न आवा) । जिमेल मन जन सो मोहि पत्था ॥
one drop of curd in full pot of milk .

प्रजापति व्रत का फल

प्रश्नोपनिषत् प्रथमः प्रश्नः

६

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुन-
मुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां
तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

उत्तर मार्गगामी की गति।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु
जिह्वामनृतं न माया चेति ॥१६॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि प्रथमः प्रश्नः ॥१॥

इस प्रकार जो भी (कोई गृहस्थ ऋतु काल में रात्रि के समय स्त्री-गमन रूप) प्रजापति व्रत का आचरण करते हैं, वे (पुत्र और पुत्री रूप) जोड़े को उत्पन्न करते हैं। जिनमें (इष्टादि कर्मानुष्ठान रूप) तप और पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य है तथा जिनमें असत्य त्याग रूप सत्य स्थित है, उन्हीं को यह (चन्द्रलोक में स्थित पितृयाण रूप) ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥१५॥

जिन गृहस्थों में कुटिलता (क्रीड़ादि वशात्) अनृत और माया नहीं है, उन्हीं को यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है (ऐसा एकान्तनिष्ठ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुक में ही संभव है। कर्म और उपासना के समुच्चित अनुष्ठान से ही उक्त फल मिलता है, केवल कर्म से तो चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है) ॥१६॥

॥ इति प्रथमः प्रश्नः ॥

तत्तत्रैवं सति ये गृहस्थाः 'ह वै' इति प्रसिद्धस्मरणार्थी निपातौ । तत्प्रजापतेर्व्रतमृतौ भार्यागमनं चरन्ति कुर्वन्ति तेषां दृष्टफलमिदम् । किम् । ते मिथुनं पुत्रं दुहितरं चोत्पादयन्ते । अदृष्टं च फलमिष्टापूर्तदत्तकारिणां तेषामेवैष यश्चान्द्रमसो ब्रह्मलोकः पितृयाणलक्षणो येषां तपः स्नातकव्रतादीनि, ब्रह्मचर्यम् ऋतावन्यत्र मैथुनासमाचरणं ब्रह्मचर्यम् । येषु च सत्यमनृतवर्जनं प्रतिष्ठितमव्यभिचारितया वर्तते नित्यमेव ॥१५॥

यस्तु पुनरादित्योपलक्षित उत्तरायणः प्राणात्मभावो विरजः शुद्धो न चन्द्रब्रह्मलोक-वद्रजस्वलो वृद्धिक्षयादियुक्तोऽसौ केषां तेषामित्युच्यते । यथा गृहस्थानामनेक-विरुद्धसंव्यवहारप्रयोजनवत्त्वाज्जिह्वां कौटिल्यं वक्रभावोऽवश्यंभावि, तथा न येषु जिह्वाम् । यथा च गृहस्थानां क्रीडानर्मादिनिमित्तमनृतमवर्जनीयं, तथा न येषु तत्, तथा माया गृहस्थानामिव न येषु विद्यते । माया नाम बहिरन्यथाऽऽत्मानं प्रकाशयान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्याचाररूपा । मायेत्येवमादयो दोषा येष्वधिकारिषु ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुषु निमित्ताभावान्न विद्यन्ते तत्साधनानुरूपेणैव तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोक इत्येषा ज्ञानयुक्तकर्मवतां गतिः । पूर्वोक्तस्तु ब्रह्मलोकः केवलकर्मिणां चन्द्रलक्षण इति ॥१६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये प्रथमः प्रश्नः ॥१॥

कौन कौन देव प्रजा को धारण करते हैं।

अथ द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्क-
त्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रका- ^{शरीर लक्षणां.}
शयन्ते। कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥

आकाशादि शरीर के आधार

कर्मेन्द्रिय.
ज्ञानेन्द्रिय

तस्मै स होवाचाऽऽकाशो ह वा एष
देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मन-
श्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति
वयमेतद्बाणमवष्टभ्य ^{कार्यकरणसंघात} विधारयामः ॥ २ ॥

उसके बाद पिप्पलाद मुनि से विदर्भदेशीय भार्गव ने पूछा— 'हे भगवन्! (इस शरीर रूप)
प्रजा को कितने देवता धारण करते हैं तथा (उन देवताओं में से) कौन इसे प्रकाशित करते
हैं और इन देवों में कौन प्रधान है' ॥ १ ॥

तब आचार्य पिप्पलाद ने उस भार्गव से कहा— 'निश्चय आकाश ही वह देव है। वायु,
अग्नि, जल, पृथिवी, वाक् (सभी कर्मेन्द्रियाँ) मन और चक्षुः (ज्ञानेन्द्रियाँ) वे सभी देव अपनी-
अपनी श्रेष्ठता के लिये महिमा को प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस कार्य-कारण-संघात रूप
शरीर को स्तम्भ की भाँति आश्रय देकर हम ही स्पष्टरूप से धारण करते हैं' ॥ २ ॥

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम् ॥

✓ प्राणोऽत्ता प्रजापतिरित्युक्तम्। तस्य प्रजापतित्वमत्तत्वं चास्मिञ्शरीरेऽवधार-
✓ यितव्यमित्ययं प्रश्न आरभ्यते—

अथानन्तरं ह किलैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। हे भगवन्कत्येव देवाः प्रजां
✓ शरीरलक्षणां विधारयन्ते विशेषेण धारयन्ते। कतरे बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियविभक्तानामेत-
✓ त्प्रकाशनं स्वमाहात्म्यप्रख्यापनं प्रकाशयन्ते। कोऽसौ पुनरेषां वरिष्ठः प्रधानः कार्यकरण-
लक्षणानामिति ॥ १ ॥

एवं पृष्ठवते तस्मै स होवाच। आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवीत्येतानि
पञ्च महाभूतानि शरीरारम्भकाणि वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रमित्यादीनि कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियाणि
च कार्यलक्षणाः करणलक्षणाश्च, ते देवा आत्मनो माहात्म्यं प्रकाश्याभिवदन्ति स्पर्धमाना
✓ अहंश्रेष्ठतायै, कथं वदन्ति? वयमेतद्बाणं कार्यकरणसंघातमवष्टभ्य प्रासादमिव

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाह-
मेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य
विधारयामीति तेऽश्रद्धधाना बभूवुः ॥ ३ ॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्य-
थेतरे सर्वे एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने
सर्वे एव प्रतिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकर-
राजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च
प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्मन-
श्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

इस प्रकार अभिमान से युक्त उन देवों के प्रति प्राण ने कहा— तुम लोग मोह को प्राप्त मत होवो, क्योंकि अपने को पाँच भागों में विभक्त कर मैं ही इस शरीर को आश्रय देकर धारण करता हूँ। किन्तु उन देवताओं ने उक्त बात पर विश्वास नहीं किया ॥ ३ ॥

तब वह प्राण (इन्द्रियों की अश्रद्धा को देखकर) अभिमान पूर्वक मानों ऊपर उठने लगा, उसके ऊपर उठते ही और सभी प्राण ऊपर उठने लगे तथा उसके बैठ जाने पर सभी बैठ गये। जैसे रानी मक्खी के ऊपर उठने पर सभी मक्खियाँ ऊपर उठ जाती हैं और उसके बैठ जाने पर सभी बैठ जाती हैं। वैसे ही वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी (प्राण के साथ ही उठने और प्रतिष्ठित होने लगे)। तब से सभी इन्द्रियाँ सन्तुष्ट होकर मुख्य प्राण की स्तुति करने लगीं ॥ ४ ॥

स्तम्भादयोऽविशिथिलीकृत्य विधारयामो विस्पष्टं धारयामः। मयैवैकेनायं संघातो ध्रियत इत्येकैकस्याभिप्रायः ॥ २ ॥

तानेवमभिमानवतो वरिष्ठो मुख्यः प्राण उवाचोक्तवान्। मा मैवं मोहमापाद्यथाविवेक-
तयाऽभिमानं मा कुरुत, यस्मादहमेवैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य
प्राणादिवृत्तिभेदं स्वस्य कृत्वा विधारयामीत्युक्तवति च तस्मिंस्तेऽश्रद्धधाना अप्रत्ययवन्तो
बभूवुः कथमेतदेवमिति ॥ ३ ॥

स च प्राणस्तेषामश्रद्धधानतामालक्ष्याभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इवेदमुत्क्रान्तवानिव
सरोषान्निरपेक्षस्तस्मिन्नुत्क्रामति यद्वृत्तं तददृष्टान्तेन प्रत्यक्षीकरोति। तस्मिन्नुत्क्रामति

अग्निः सन् एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायु- सन् वर्धति
रेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चांमृतं च यत् ॥५॥ इन्द्रः सन् पालयति
[प्राण सबका आश्रय है] देवानों स्थिति कारणे.
अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।

ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६॥ सर्वत्र पालयितुं
मन्त्रास्तत्साध्यश्च यज्ञः

वह प्राण अग्नि होकर प्रज्वलित होता है, यह सूर्य (होकर प्रकाशित होता है) और यह मेघ (होकर बरसाता) है। यही इन्द्र (होकर प्रजा का पालन करता है तथा असुरों का वध करता) है। यह वायु है तथा यह देव ही पृथिवी चन्द्रमा (रूप से सबका धारण एवं पोषण करने वाला है) और जो कुछ स्थूल, सूक्ष्म एवं अमृत है, वह सब कुछ यही है ॥५॥

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं, वैसे ही ऋक्, यजुः और साम (तीन प्रकार के मन्त्र), उनसे निष्पन्न यज्ञ तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय ये सब प्राण में ही स्थित हैं ॥६॥

सत्यथानन्तरमेवेतरे सर्व एव प्राणाश्चक्षुरादय उत्क्रामन्ते उच्चक्रमिरे। तस्मिंश्च प्राणे प्रतिष्ठमाने तूष्णीं भवत्यनुत्क्रामति सति सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते तूष्णीं व्यवस्थिता अभूवन्। तत्तत्र यथा लोके मक्षिका मधुकराः स्वराजानं मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं प्रति सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते प्रतितिष्ठन्ति। यथाऽयं दृष्टान्तः, एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं चेत्यादयस्त उत्सृज्याश्चदधानतां बुद्ध्वा प्राणमाहात्म्यं प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति स्तुवन्ति ॥४॥

कथम्—

एष प्राणोऽग्निः संस्तपति ज्वलति। तथैष सूर्यः सन्प्रकाशते। तथैष पर्जन्यः सन्वर्षति। किं च मघवानिन्द्रः सन्प्रजाः पालयति जिघांसत्यसुरक्षांसि। एष वायुरावहप्रवहादिभेदः। किं चैष पृथिवी रयिर्देवः सर्वस्य जगतः सन्मूर्तमसदमूर्तं चांमृतं च यद्देवानां स्थितिकारणं किं बहुना ॥५॥

अरा इव रथनाभौ श्रद्धादि नामान्तं सर्वं स्थितिकाले प्राण एव प्रतिष्ठितम्। तथर्चो यजूंषि सामानीति त्रिविधा मन्त्रास्तत्साध्यश्च यज्ञः क्षत्रं च सर्वस्य पालयितुं ब्रह्म च यज्ञादिकर्मकर्तृत्वेऽधिकृतं चैवैष प्राणः सर्वम् ॥६॥

प्राण की स्तुति

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण
प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥

हविषां प्रापयितुमः

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८॥

चक्षुरादीनां
देह धारणादि के निमित्त

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।

हे प्राण! तू ही जन्म लेता है। ये मनुष्यादि सम्पूर्ण प्रजाएँ तुझे ही (चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा) उपहार समर्पण करती हैं क्योंकि जो उन इन्द्रियों के साथ भोक्ता रूप से स्थित है, वह तू ही है ॥७॥

देवताओं के लिये तू श्रेष्ठ वह्नितम है। नान्दीमुखादि श्राद्धों में पितरों के लिए प्रथम स्वधा तू है और अथर्वा श्रुति के अनुसार अंगों का रस रूप तू है अर्थात् देह धारणादि के लिये सत्य आचरण रूप तू है ॥८॥

हे प्राण! तू परमेश्वर है, तू अपने तेज से (जगत् का संहार करने वाला) रुद्र है और

किंच—

यः प्रजापतिरपि स त्वमेव गर्भे चरसि पितुर्मातुश्च प्रतिरूपः सन्प्रतिजायसे
प्रजापतित्वादेव प्रागेव सिद्धं तव मातृपितृत्वं सर्वदेहदेहाकृतिच्छन्नैकः प्राणः सर्वात्माऽ-
सीत्यर्थः । तुभ्यं त्वदर्थं या इमा मनुष्याद्याः प्रजास्तु हे प्राण चक्षुरादिद्वारैर्बलिं हरन्ति ।
यस्त्वं प्राणैश्चक्षुरादिभिः सह प्रतितिष्ठसि सर्वशरीरेष्वतस्तुभ्यं बलिं हरन्तीति युक्तम् । भोक्ता
हि यतस्त्वं तवैवान्यत्सर्वं भोज्यम् ॥७॥

= यस्त्वम्
इत्यपि
पाठः

किंच—

देवानामिन्द्रादीनामसि भवसि त्वं वह्नितमो हविषां प्रापयितुमः । पितॄणां नान्दीमुखे
श्राद्धे या पितृभ्यो दीयते स्वधाऽन्नं सा देवप्रदानमपेक्ष्य प्रथमा भवति । तस्या अपि
पितृभ्यः प्रापयिता त्वमेवेत्यर्थः । किंचर्षीणां चक्षुरादीनां प्राणानामङ्गिरसामङ्गिरसभूता-
नामथर्वणां तेषामेव 'प्राणो वाऽथर्वा' इति श्रुतेः । चरितं चेष्टितं सत्यमवितथं देहधारणाद्युपका-
रलक्षणं त्वमेवासि ॥८॥

किंच—

इन्द्रः परमेश्वरस्त्वं हे प्राण तेजसा वीर्येण रुद्रोऽसि संहरञ्जगत् । स्थितौ च परि-

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणते प्रजाः ।

आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायानं भविष्यतीति ॥१०॥

संस्कार हीन

ब्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरन्ता ^{एकर्विनाम अग्नि} विश्वस्य सत्पतिः । ^{हविषाम् सर्व}

वयमाद्यस्य दातारः, पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥

(अपने सौम्यरूप से तू ही जगत् का) सर्वतोभावेन संरक्षक है। तू अन्तरिक्ष में सदा गमन करता है और तू ही समस्त ज्योतियों का अधिपति सूर्य है ॥९॥

हे प्राण! जब तू मेघ होकर बरसता है, तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा सुख को प्राप्त हुए के समान स्थित होती है कि अब यथेच्छ अन्न उत्पन्न होगा ॥१०॥

हे प्राण! तू (संस्कारकर्ता के अभाव में संस्कार हीन) ब्रात्य है। तू आथर्वणों का एकर्विनामक अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियों का भोक्ता है तथा विश्व का सत्पति है। आज हम तेरे लिये भक्ष्य देने वाले हैं। हे मातरिश्वन्! तू हमारा पिता है ॥११॥

समन्ताद्रक्षिता पालयिता परिरक्षिता त्वमेव जगतः सौम्येन रूपेण । त्वमन्तरिक्षेऽजस्रं चरसि उदयास्तमयाभ्यां सूर्यस्त्वमेव च सर्वेषां ज्योतिषां पतिः ॥९॥

यदा पर्जन्यो भूत्वाऽभिवर्षसि त्वमथ तदाऽन्नं प्राप्येमाः प्रजाः प्राणते प्राणचेष्टां कुर्वन्तीत्यर्थः । अथवा प्राण! ते तवेमाः प्रजाः स्वात्मभूतास्त्वदन्नसंवर्धितास्त्वदभिवर्षणदर्शनमात्रेण चाऽऽनन्दरूपाः सुखं प्राप्ता इव सत्यस्तिष्ठन्ति । कामायेच्छातोऽन्नं भविष्यतीत्येवमभिप्रायः ॥१०॥

किंच—

- ✓ प्रथमजत्वादन्त्यस्य संस्कर्तुरभावादसंस्कृतो ब्रात्यस्त्वं स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः । हे प्राणैकऋषिस्त्वमाथर्वणानां प्रसिद्ध एकर्विनामाऽग्निः सन्नन्ता सर्वहविषाम् ।
- ✓ त्वमेव विश्वस्य सर्वस्य सतो विद्यमानस्य पतिः सत्पतिः । साधुर्वा पतिः सत्पतिः । वयं
- ✓ पुनराद्यस्य तवादनीयस्य हविषो दातारः । त्वं पिता मातरिश्व हे मातरिश्वनोऽस्माकम् । अथ वा मातरिश्वनो वायोस्त्वम् । अतश्च सर्वस्यैव जगतः पितृत्वं सिद्धम् ॥११॥

या ते तनूवाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। ^{स्वर्गे-}
मातेव पुत्रानक्षस्व श्रीश्च प्रजां च विधेहि न इति ॥१३॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि द्वितीयः प्रश्नः ॥२॥

तेरा जो स्वरूप (वक्ता की) वाणी में स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और मन में व्याप्त है, उसे शान्त करो। तुम उत्क्रमण न करो अर्थात् इस देह को अमंगलमय न बनाओ ॥१२॥

इस लोक में यह सब और स्वर्गलोक में देवादि के उपभोगरूप जो कुछ वैभव हैं, वे सब प्राण के ही अधीन हैं। जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है; वैसे ही तुम हमारी रक्षा करो तथा हमें श्री और प्रजा प्रदान करो ॥१३॥

॥ इति द्वितीयः प्रश्नः ॥

किं बहुना—

या ते त्वदीया तनूवाचि प्रतिष्ठिता वक्तृत्वेन वदनचेष्टां कुर्वती। या श्रोत्रे या च चक्षुषि या च मनसि संकल्पादि व्यापारेण संतता समनुगता तनूस्तां शिवां शान्तां कुरु मोत्क्रमीरुत्क्रमणेन शिवां मा कार्षीरित्यर्थः ॥१२॥

किं बहुना—

अस्मिल्लोके प्राणस्यैव वशे सर्वमिदं यत्किंचिदुपभोगजातं त्रिदिवे तृतीयस्यां दिवि च यत्प्रतिष्ठितं देवाद्युपभोगलक्षणं तस्यापि प्राणः एवेशिता रक्षिता। अतो मातेव पुत्रानस्मानक्षस्व पालयस्व। त्वन्निमित्ता हि ब्राह्मण्यः क्षात्रियाश्च श्रियस्तास्त्वं श्रीश्च श्रियश्च प्रजां च त्वत्स्थितिनिमित्तां विधेहि नो विधत्स्वेत्यर्थः। इत्येवं सर्वात्मतया वागादिभिः प्राणैः स्तुत्या गमितमहिमा प्राणः प्रजापतिरत्तेत्यवधृतम् ॥१३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये द्वितीयप्रश्नः ॥२॥

प्राण के सर्गादि प्रकार का प्रश्न अथ तृतीयः प्रश्नः

अथ हैनं कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ । भग-
वन्कुत एष प्राणो जायते, कथमायात्यस्मिञ्शरीर,
आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते, केनोत्क्र-

मते कथं बाह्यमभिधत्ते, कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥ धारण करता है।

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मि- कठिन, गहरी,
ष्टोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥ इन्द्रियातीत सत्यता के विषय में प्रश्न.

परस्मादक्षरात्सत्यादे आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायेत-

तत्पश्चात् अश्वल के पुत्र कौसल्य ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा— हे भगवन्! यह प्राण किस कारण विशेष से उत्पन्न होता है और किस व्यापार विशेष से किस शरीर में आता है तथा शरीर में प्रविष्ट अपने को विभक्त कर किस प्रकार स्थित होता है, फिर शरीर से उत्क्रमण क्यों करता है और किस प्रकार बाह्य तथा आन्तर शरीर को धारण करता है ॥ १ ॥

उससे आचार्य पिप्पलाद ने कहा— तू प्राणदि के उत्पत्ति विषयक अत्यन्त कठिन प्रश्न पूछता है फिर भी तू बड़ा ब्रह्मवेत्ता है । अतः मैं प्रसन्न होकर तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ ॥ २ ॥

आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है । जैसे लोक में मनुष्य शरीर से छाया उत्पन्न होती

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम् ॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ । प्राणो ह्येवं प्राणैर्निर्धारिततत्त्वै-
✓ रूपलब्धमहिमाऽपि संहतत्वात्स्यादस्य कार्यत्वमतः पृच्छामि । भगवन्कुतः कस्मात्कारणादेष
✓ यथावधृतः प्राणो जायते । जातश्च कथं केन वृत्तिविशेषेणाऽऽयात्यस्मिञ्शरीरे । किंनिमित्त-
✓ कमस्य शरीरग्रहणमित्यर्थः । प्रविष्टश्च शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य प्रविभागं कृत्वा कथं
केन प्रकारेण प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति । केन वा वृत्तिविशेषेणास्माच्छरीरादुत्क्रमते उत्क्रामति । कथं
बाह्यमभिधूतमधिदैवतं चाभिधत्ते धारयति कथमध्यात्ममिति धारयतीति शेषः ॥ १ ॥

एवं पृष्ठस्तस्मै स होवाचाऽऽचार्यः । प्राण एव तावदुर्विज्ञेयत्वाद्विषमप्रश्ना-
हंस्तस्यापि जन्मादि त्वं पृच्छस्यतोऽतिप्रश्नान्पृच्छसि । ब्रह्मिष्टोऽसीत्यतिशयेन त्वं ब्रह्म-
विदस्तुष्टोऽहं तस्मात्ते तुभ्यं ब्रवीमि यत्पृष्ठं शृणु ॥ २ ॥ इन्द्रियातीत सत्यता के विषय में प्रश्न

आत्मनः परस्मात्पुरुषादक्षरात्सत्यादेष उक्तः प्राणो जायते । कथमित्यत्र दृष्टान्तः ।

अश्वमेधके समान पुण्य नहीं ब्रूणहत्या के समान पाप नहीं॥

इन्द्रियों का अधिष्ठाता प्राण है प्रश्नोपनिषत् तृतीयः प्रश्नः

99

आत्मा में प्राण व्याप्त स्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥ मनो अन्य संकल्पादि से च च वापि --

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रा- ग्रामेषु
मानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण

इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव

संनिधत्ते ॥ ४ ॥ नियुक्त करता है

पञ्च प्राण की स्थिति

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासि-

काभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु नाश्याम्

है, वैसे ही इस आत्मा में प्राण व्याप्त है तथा यह मनोजन्य संकल्पादि से इस शरीर में आता है ॥ ३ ॥

जैसे राजा ही, "तुम इन ग्रामों में और तुम इन ग्रामों में निवास करो" इस प्रकार अधिकारियों को नियुक्त करता है, वैसे ही यह मुख्य प्राण भी अन्य इन्द्रियों को इनके स्थानों के अनुसार पृथक्-पृथक् नियुक्त करता है ॥ ४ ॥

यह प्राण गुदा और मूत्रेन्द्रिय में अपान को (मलमूत्र त्याग के लिये नियुक्त करता है) एवं मुख तथा नासिका से निकलता हुआ चक्षु और श्रोत्र में स्वयं सम्राट् रूप से स्थित रहता

यथा लोके एषा पुरुषे शिरःपाण्यादिलक्षणे निमित्ते छाया नैमित्तिकी जायते ✓
तद्वदेतस्मिन्ब्रह्मण्येतत्प्राणाख्यं छायास्थानीयमनृतरूपं तत्त्वं सत्ये पुरुषे आततं समर्पित- ✓
मित्येतत् छायेव देहे। मनोकृतेन मनःसंकल्पेच्छादिनिष्पन्नकर्मनिमित्तेनेत्येतद्वक्ष्यति हि ✓
"पुण्येन पुण्यम्" (प्र० उ० ३/७) इत्यादि। "तदेव सक्तः सह कर्मणा" (बृ० उ० ४/४/६) इति च श्रुत्यन्तरात्। आयात्यागच्छत्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

यथा येन प्रकारेण लोके राजा सम्राडेव ग्रामादिष्वधिकृतान्विनियुङ्क्ते। कथम्? एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेति। एवमेव यथा दृष्टान्तः। एष मुख्यः प्राण इतरान्प्राणांश्चक्षुरादीनात्मभेदांश्च पृथक्पृथगेव यथास्थानं संनिधत्ते विनियुङ्क्ते ॥ ४ ॥

तत्र विभागः—

पायूपस्थे पायुश्चोपस्थश्च पायूपस्थं तस्मिन्। अपानमात्मभेदं मूत्रपुरीषाद्यपनयनं कुर्वन्तिष्ठति संनिधत्ते। तथा चक्षुःश्रोत्रे चक्षुश्च श्रोत्रं च चक्षुश्च श्रोत्रं तस्मिंश्चक्षुःश्रोत्रे।

३ समानः। एष ह्येतद्धृतमन्नं समं नयति

तस्मादेताः समार्चिषो भवन्ति ॥५॥ शिरोवर्ती ज्वालाये.

सूक्ष्म शरीर की स्थिति

101 x 100 x 72,000 / 72,72,000000.

३ हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां

शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशा-

खानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६॥

वीर्यवत्कर्मकर्ता

है और मध्य में समान रहता है। यह समान वायु ही खाये-पीये हुये अन्न जल को शरीर में सर्वत्र समभाव से ले जाता है। उसी जठराग्नि से शिरोवर्ती ये सात ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं ॥५॥

यह जीवात्मा हृदयाकाश में स्थित है, इस हृदयदेश में एक सौ एक (प्रधान) नाड़ियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक प्रधान नाड़ी की सौ-सौ शाखाएँ हैं और फिर उन सौ भेदों में से बहत्तर-बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियाँ हैं। इन सभी नाड़ियों में व्यान वायु विचरता है ॥६॥

मुखनासिकाभ्यां च मुखं च नासिका च ताभ्यां मुखनासिकाभ्यां च निर्गच्छन्प्राणः स्वयं सम्राट्स्थानीयः प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति। मध्ये तु प्राणापानयोः स्थानयोर्नाभ्याम्। समानोऽशितं पीतं च समं नयतीति समानः। एष हि यस्माद्यदेतद्धृतं भुक्तं पीतं चाऽऽत्मानौ प्रक्षिप्तमन्नं समं नयति तस्मादशितपीतेन्धनादग्नेरौदर्यादधृदयदेशं प्राप्तादेताः समसंख्याका अर्चिषो दीप्तयो निर्गच्छन्त्यो भवन्ति शीर्षण्यः प्राणद्वारा दर्शनश्रवणादिलक्षणरूपादिविषयप्रकाशा इत्यभिप्रायः ॥५॥

हृदि ह्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयाकाशे एष आत्माऽऽत्मना संयुक्तो लिङ्गात्मा, अत्रास्मिन्हृदये एतदेकशतमेकोत्तरशतं संख्यया प्रधाननाडीनां भवतीति। तासां शतं शतमेकैकस्याः प्रधाननाड्या भेदाः। पुनरपि द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिर्द्वे द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि। सहस्राणां द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि प्रतिप्रतिनाडीशतं संख्यया प्रधाननाडीनां सहस्राणि भवन्ति। आसु नाडीषु व्यानो वायुश्चरति। व्यानो व्यापनात्। आदित्यादिव रश्मयो हृदयात्सर्वतोगामिनीभिर्नाडीभिः सर्वदेहं संव्याप्य व्यानो वर्तते। संधिस्कन्धमर्मदेशेषु विशेषेण प्राणापानवृत्त्योश्च मध्ये उद्भूतवृत्तिर्वीर्यवत्कर्मकर्ता भवति ॥६॥

अधिदेवता प्राणादि को वर्णन

प्रश्नोपनिषत् तृतीयः प्रश्नः

8-9

मरणोत्तर प्राण उच्छ्वास का प्रकार

9E

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं
प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्या-
पानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

यो बाह्यो वायुः
सः व्यानः

यद्येवाकाशमभिधानं

तथा (उन एक सौ एक नाड़ियों में से सुषुम्ना की ऊर्ध्वगामिनी) एक नाड़ी द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला उदान वायु (जीवात्मा को) शास्त्रोक्त कर्म से देवादि पुण्यलोक को प्राप्त कराता है और शास्त्र निषिद्ध पाप कर्म से तिर्यगादि पापमय लोक को ले जाता है, एवं पुण्य-पाप दोनों प्रकार के मिश्रित कर्मों द्वारा उसे मनुष्य लोक में ले जाता है ॥ ७ ॥

निश्चय आदित्य ही अधिदैवत बाह्य प्राण है। यह नेत्रस्थ चाक्षुष इस आध्यात्मिक प्राण पर अनुग्रह करता हुआ प्रकाशित होता है। पृथिवी में जो देवता है, वह पुरुष के अपान वायु को अपने अधीन करके रहता है। इन दोनों के मध्यवर्ती आकाशस्थ वह समान वायु है, एवं इनसे भिन्न व्यापक वायु ही व्यान है ॥ ८ ॥

अथ या तु तत्रैकशतानां नाडीनां मध्ये ऊर्ध्वगा सुषुम्नाख्या नाडी, तथैकयोर्ध्वः सन्नुदानो वायुरापादतलमस्तकवृत्तिः संचरन्पुण्येन कर्मणा शास्त्रविहितेन पुण्यं लोकं देवादिस्थानलक्षणं नयति प्रापयति। पापेन तद्विपरीतेन पापं नरकं तिर्यग्योन्यादिलक्षणम्, उभाभ्यां समप्रधानाभ्यां पुण्यपापाभ्यामेव मनुष्यलोकं नयतीत्यनुवर्तते ॥ ७ ॥

आदित्यो ह वै प्रसिद्धो ह्यधिदैवतं बाह्यः प्राणः स एष उदयत्युदगच्छति। एष ह्येनमाध्यात्मिकं चाक्षुषि भवं चाक्षुषं प्राणं प्रकाशेनानुगृह्णानो रूपोपलब्धौ चाक्षुषः आलोकं कुर्वन्नित्यर्थः। तथा पृथिव्यामभिमानिनी या देवता प्रसिद्धा सैषा पुरुषस्यापानमपानवृत्तिमवष्टभ्याऽऽकृष्य वशीकृत्याधः एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्तते इत्यर्थः। अन्यथा हि शरीरं गुरुत्वात्पतेत्सावकाशे वोदगच्छेत्। यदेतदन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योर्य आकाशस्तत्स्थो वायुराकाश उच्यते मञ्जस्थवत्। स समानः समानमनुगृह्णानो वर्तते इत्यर्थः। समानस्यान्तराकाशस्थत्वसामान्यात्। सामान्येन च यो बाह्यो वायुः स व्याप्तिसामान्याद्व्यानो व्यानमनुगृह्णानो वर्तते इत्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

सूर्य. ३ तेजो ह वाव उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।

पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥९॥

मरण काल के संकल्प की परिणाम

② यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः ।

संकल्प के अनुसार

सहाऽऽत्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥

य एवं विद्वान्प्राणं वेद । न हास्य प्रजा

हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥११॥

लोक प्रसिद्ध सूर्य तेज ही उदान है। अतः जिसकी शारीरिक ऊष्मा शान्त हो जाती है, वह मन में विलीन हुई वागादि इन्द्रियों के सहित देहान्तर को प्राप्त होती है ॥९॥

जिसका जैसा चित्त संकल्प करता है, उस संकल्प के सहित वह जीव मुख्य प्राण वृत्ति को प्राप्त होता है तथा वह प्राण उदान वृत्तिरूप तेज से संयुक्त हो भोक्ता जीव के सहित संकल्पानुरूप लोक को प्राप्त कराता है ॥१०॥

जो विद्वान् पुरुष पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त प्राण को इस प्रकार जानता है, उसकी पुत्र-पौत्रादि प्रजा नष्ट नहीं होती और (सायुज्य को प्राप्त हो जाने के कारण) वह अमर हो जाता है। इस विषय में यह मन्त्र है ॥११॥

यद्बाह्यं ह वै प्रसिद्धं सामान्यं तेजस्तच्छरीरे उदान उदानं वायुमनुगृह्णाति स्वेन प्रकाशेनेत्यभिप्रायः । यस्मात्तेजःस्वभावो बाह्यतेजोनुगृहीत उत्क्रान्तिकर्ता तस्माद्यदा लौकिकः पुरुष उपशान्ततेजा भवति । उपशान्तं स्वाभाविकं तेजो यस्य सः । तदा तं क्षीणायुषं मुमूर्षुं विद्यात् । स पुनर्भवं शरीरान्तरं प्रतिपद्यते । कथम् । सहेन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः प्रविशद्भिर्वागादिभिः ॥९॥

मरणकाले यच्चित्तो भवति तेनैष जीवश्चित्तेन संकल्पेनेन्द्रियैः सह प्राणं मुख्य-प्राणवृत्तिमायाति । मरणकाले क्षीणेन्द्रियवृत्तिः सन्मुख्यया प्राणवृत्त्यैवावतिष्ठत इत्यर्थः । तदा हि वदन्ति ज्ञातय उच्छ्वसिति जीवतीति । स च प्राणस्तेजसोदानवृत्त्या युक्तः सन्सहाऽऽत्मना स्वामिना भोक्त्रा स एवमुदानवृत्त्यैव युक्तः प्राणस्तं भोक्तारं पुण्यपापकर्मवशाद्यथासंकल्पितं यथाभिप्रेतं लोकं नयति प्रापयति ॥१०॥

यः कश्चिदेवं विद्वान्यथोक्तविशेषणैर्विशिष्टमुत्पत्त्यादिभिः प्राणं वेद जानाति तस्येदं

मनो कृतेनास्मिन् शरीरेः

प्रश्नोपनिषत् तृतीयः प्रश्नः

परमात्मासे

१ उत्पत्तिमायति २ स्थानं ३ विभुत्वं ४ चैव पञ्चधा। २१ आदित्यादि बाह्य तथा चक्षुरादि आध्यात्मिक सम्प्रदायः सम्प्राडिव

अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतम-

श्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि तृतीयः प्रश्नः ॥ ३ ॥

प्राण की (परमात्मा से) उत्पत्ति (मनःसंकल्प से इस शरीर में) आगमन (पायूपस्थादि में) स्थान, पञ्चवृत्ति भेद के कारण व्यापकता एवं आदित्यादि बाह्य तथा चक्षुरादि आध्यात्मिक रूप से प्राण के भेद को जानकर साधक अमरत्व को प्राप्त कर लेता है, ऐसा जानकर अमरत्व को प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

॥ इति तृतीयः प्रश्नः ॥

फलमैहिकमामुष्मिकं चोच्यते। न हास्य नैवास्य विदुषः प्रजा पुत्रपौत्रादिलक्षणा हीयते छिद्यते। पतिते च शरीरे प्राणसायुज्यतयाऽमृतोऽमरणधर्मा भवति, तदेतस्मिन्नर्थे संक्षेपाभिधायकः एष श्लोको मन्यो भवति ॥ ११ ॥

उत्पत्तिं परमात्मनः प्राणस्याऽऽयतिमागमनं मनोकृतेनास्मिञ्शरीरे, स्थानं स्थितिं च पायूपस्थादिस्थानेषु, विभुत्वं च स्वाम्यमेव सम्प्राडिव प्राणवृत्तिभेदानां पञ्चधा स्थापनम्। बाह्यमादित्यादिरूपेणाध्यात्मं चैव चक्षुराद्याकारेणावस्थानं विज्ञायैवं प्राणममृतमश्नुते इति। विज्ञायामृतमश्नुते इति द्विर्वचनं प्रश्नार्थपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये तृतीयः प्रश्नः ॥ ३ ॥

॥ १ आह्निकम् ॥

अथ चतुर्थः प्रश्नः ।

सुषुप्ति में सोने वाला और जाग्रत में जागने वाला कौन।
अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ ।

भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति, कान्यस्मिञ्जाग्रति,

कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति, कस्यैतत्सुखं

भवति, कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

इन्द्रिया.

उसके बाद इन पिप्पलाद महर्षि से सूर्य के पौत्र सौर्यायणी गार्ग्य ने पूछा — 'हे भगवन! इस (सिर और हाथ पैर वाले) पुरुष में कौन इन्द्रियाँ सोती हैं, कौन इसमें जागती हैं, (जाग्रत और स्वप्न के व्यापार समाप्त हो जाने पर) किसे यह सुख होता है और किसमें ये सभी इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित होती हैं' ॥१॥

॥अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम्॥

- ✓ अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छः प्रश्नत्रयेणापरविद्यागोचरं सर्वं परिसमाप्य संसारं
- ✓ व्याकृतविषयं साध्यसाधनलक्षणमनित्यम् । अथेदानीमसाध्यसाधनलक्षणमप्राणममनोगोचर-
- ✓ मतीन्द्रियविषयं शिवं शान्तमविकृतमक्षरं सत्यं परविद्यागम्यं पुरुषाख्यं सबाह्याभ्यन्तरमजं
- ✓ वक्तव्यमित्युत्तरं प्रश्नत्रयमारभ्यते ।

- ✓ तत्र सुदीप्तादिवाग्नेर्यस्मात्परादक्षरात्सर्वे भावा विस्फुलिङ्गा इव जायन्ते तत्र
- ✓ चैवापियन्तीत्युक्तं द्वितीये मुण्डके, के ते सर्वे भावा अक्षराद्विभज्यन्ते । कथं वा विभक्ताः
- ✓ सन्तस्तत्रैवापियन्ति । किं लक्षणं वा तदक्षरमिति । एतद्विवक्षयाऽधुना प्रश्नानुद्धावयति—

- भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे शिरःपाण्यादिमति कानि करणानि स्वपन्ति स्वापं कुर्वन्ति, स्वव्यापारादुपरमन्ते कानिचास्मिञ्जाग्रति जागरणमनिद्रावस्थां स्वव्यापारं कुर्वन्ति । कतरः कार्यकरणलक्षणयोरेष देवः स्वप्नान्पश्यति । स्वप्नो नाम जाग्रद्दर्शनान्निवृत्तस्य जाग्रद्वदन्तः— शरीरे यद्दर्शनम् । तत्किं कार्यलक्षणेन देवेन निर्वर्त्यते, किं वा करणलक्षणेन केनचिदित्यभि- प्रायः । उपरते च जाग्रत्स्वप्नव्यापारे यत्प्रसन्नं निरायासलक्षणमनाबाधं सुखं कस्यैतद्भवति । तस्मिन्काले जाग्रत्स्वप्नव्यापारादुपरताः सन्तः कस्मिन्नु सर्वे सम्यगेकीभूताः संप्रतिष्ठिताः । मधुनि- रसवत्समुद्रं प्रविष्टनद्यादिवच्च विवेकानर्हाः प्रतिष्ठिता भवन्ति संगताः संप्रतिष्ठिता भवन्तीत्यर्थः । ननु न्यस्तदात्रादिकरणवत्स्वव्यापारादुपरतानि पृथक्पृथगेव स्वात्मन्यवतिष्ठन्त इत्येतद्युक्तं
- छोड़ी हुयी.

आत्मा ही इन्द्रियों को लेय उभान है।

स्वपिति।

ॐ तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्क - किरणं, सूर्यम्।
स्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकी
भवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह
वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति। तेन तर्ह्येष
पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते
न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते
न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥२॥

आचार्य ने उस प्रश्नकर्ता से कहा — 'हे गार्ग्य! जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर सम्पूर्ण किरणें उस तेजोमण्डल सूर्य में ही एकत्रित हो जाती हैं तथा उसी सूर्य के पुनः उदय होने पर वे रश्मियाँ उससे निकलकर फिर सर्वत्र फैल जाती हैं, उसी प्रकार वे इन्द्रियाँ और विषय परम देव में अभिन्न हो जाती हैं। अतः उस निद्रा काल में वह (देवदत्तादि रूप पुरुष) न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न रस लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न पकड़ता है, न आनन्द भोगता है, न त्यागता है और न चेष्टा करता है। इसीलिये लौकिक पुरुष उसे 'सोता है' ऐसा कहते हैं ॥२॥

कुतः प्राप्तिः सुषुप्तपुरुषाणां करणानां कस्मिंश्चिदेकीभावगमनाशङ्कायाः प्रष्टुः। युक्तैव त्वाशङ्का। यतः संहतानि करणानि स्वाम्यर्थानि परतन्त्राणि च जाग्रद्विषये तस्मात्स्वापेऽपि संहतानां पारतन्त्र्येणैव कस्मिंश्चित्संगतिन्याय्येति तस्मादाशङ्कानुरूप एव प्रश्नोऽयम्। अत्र तु कार्यकरणसंघातो यस्मिंश्च प्रलीनः सुषुप्तप्रलयकालयोस्तद्विशेषं बुभुत्सोः स को नु स्यादिति कस्मिन्सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

तस्मै स होवाचाऽऽचार्यः। शृणु हे गार्ग्य यत्त्वया पृष्टम्। यथा मरीचयो रश्मयोऽर्कस्याऽऽदित्यस्यास्तमदर्शनं गच्छतः सर्वा अशेषत एतस्मिंस्तेजोमण्डले तेजोराशिरूप एकी भवन्ति विवेकानहृत्वमविशेषतां गच्छन्ति, मरीचयस्तस्यैवार्कस्य ताः पुनः पुनरुदयत उद्गच्छतः प्रचरन्ति विकीर्यन्ते। यथाऽयं दृष्टान्तः। एवं ह वै तत्सर्वं विषयेन्द्रियादिजातं परे प्रकृष्टे देवे द्योतनवति मनसि चक्षुरादि देवानां मनस्तन्त्रत्वात्परो देवो मनस्तस्मिन्स्वप्न-काल एकी भवति, मण्डले मरीचिवदविशेषतां गच्छति। जिजागरिषोश्च रश्मिवन्मण्डलान्मनस एव प्रचरति स्वव्यापाराय प्रतिष्ठते। यस्मात्स्वप्नकाले श्रोत्रादीनि शब्दाद्युपलब्धिकरणानि

गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो, व्यानोऽन्वाहार्यपचनो, यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३॥

यदुच्छ्वासनिश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स तस्मात् समानः । मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४॥

इस (नौ द्वार वाले शरीर रूप) पुर में प्राणाग्नि ही जागते हैं । निश्चय यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है । व्यान (हृदय कमल के दक्षिण छिद्र द्वारा निकलने के कारण दक्षिण दिशा से सम्बन्ध के कारण) दक्षिणाग्नि है और जो गार्हपत्य से ले जाया जाता है वह प्राण ही प्रणयन के कारण आहवनीय नामक अग्नि है ॥३॥

क्योंकि उच्छ्वास और निश्वास— ये अग्निहोत्र की आहुतियों के समान हैं (देह रक्षा के लिये) इन्हें जो समभाव से सर्वदा चलाता है, वह समान ऋत्विक् है । निश्चय ही मन यजमान है और उदान वायु ही इष्टफल है । वह उदान वायु इस मन नामक यजमान को (स्वप्न व्यापार से भी गिरा कर) नित्य प्रति सुषुप्ति में ब्रह्म के पास ले जाता है ॥४॥

मनस्येकीभूतानीव करणव्यापारादुपरतानि तेन तस्मात्तर्हि तस्मिन्स्वापकाले एष देवदत्तादिलक्षणः पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते लौकिकाः ॥२॥

सुप्तवत्सु श्रोत्रादिषु करणेष्वेस्मिन्युरे नवद्वारे देहे प्राणाग्नयः प्राणादिपञ्चवायवोऽग्नयः

- ✓ इवाग्नयो जाग्रति । अग्निसामान्यं ह्याह गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः । कथमित्याह—
- ✓ यस्माद्गार्हपत्यादग्नेरग्निहोत्रकाल इतरोऽग्निराहवनीयः प्रणीयते, प्रणयनात्प्रणीयतेऽस्मादिति
- ✓ प्रणयनो गार्हपत्योऽग्निः । तथा सुप्तस्यापानवृत्तेः प्रणीयते इव प्राणो मुखनासिकाभ्यां संचरत्यत
- ✓ आहवनीयस्थानीयः प्राणः । व्यानस्तु हृदयादक्षिणसुषिरद्वारेण निर्गमादक्षिण-
- ✓ दिक्संबन्धादन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः ॥३॥

- ✓ अत्र च होताऽग्निहोत्रस्य यद्यस्मादुच्छ्वासनिश्वासावग्निहोत्राहुती इव नित्यं
- ✓ द्वित्वसामान्यदेव त्वेतावाहुती समं साम्येन शरीरस्थितिभावाय नयति यो वायुरग्निस्थानी-

ॐ अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद्दृष्टं
दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देश-
दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति
दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं
च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥५॥

इस (श्रोत्रादि इन्द्रियों के उपरतरूप स्वप्न) अवस्था में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है । इसने जाग्रद् अवस्था में जिसे देखा है, उसी दृष्ट वस्तु को स्वप्न में पुनः देखता है । प्रत्येक सुनी हुई बातों को फिर सुनता है और दिशा तथा विदिशा में अनुभूत वस्तु को ही पुनः-पुनः अनुभव करता है । (विशेष क्या कहें) इस जन्म में देखे और जन्मान्तर में सुने वैसे ही अनुभूत और अननुभूत, पृथिव्यादि सत् और मृगजंलादि असत् सभी प्रकार की वस्तु को देखता है और वह सर्वरूप से मनोदेव स्वप्न को देखता है ॥५॥

योऽपि होता चाऽऽहुत्योर्नेतृत्वात् । कोऽसौ स समानः । अतश्च विदुषः स्वापोऽप्यग्निहोत्रहवन-
मेव । तस्माद्विद्वान्नाकमीत्येवं मन्तव्य इत्यभिप्रायः । सर्वदा सर्वाणि भूतानि विचिन्वन्त्यङ्गि प
स्वपतः इति हि वाजसनेयके । अत्र हि जाग्रत्सु प्राणाग्निषूपसंहृत्य बाह्यकरणानि
विषयांश्चाग्निहोत्रफलमिव स्वर्गं ब्रह्म जिगमिषुर्मनो ह वाव यजमानो जागर्ति यजमानवत्कार्य-
करणेषु प्राधान्येन संव्यवहारात्स्वर्गमिव ब्रह्म प्रति प्रस्थितत्वाद्यजमानो मनः कल्प्यते । प्रधान
करने वाला
इष्टफलं यागफलमेवोदानो वायुः । उदाननिमित्तत्वाद्विष्टफलप्राप्तेः । कथम्, स उदानो मन आख्यं
यजमानं स्वप्नवृत्तिरूपादपि प्रच्याव्याहरहः सुषुप्तिकाले स्वर्गमिव ब्रह्माक्षरं गमयति । अतो
यागफलस्थानीयः उदानः ॥४॥

एवं विदुषः श्रोत्राद्युपरमकालादारभ्य यावत्सुप्तोत्थितो भवति तावत्सर्वयागफलानुभव
एव नाविदुषामिवानर्थायेति विद्वत्ता स्तूयते । न हि विदुष एव श्रोत्रादीनि स्वप्नते ✓
प्राणाग्नयो वा जाग्रति जाग्रत्स्वप्नयोर्मनः स्वातन्त्र्यमनुभवदहरहः सुषुप्तं वा प्रतिपद्यते । समानं
हि सर्वप्राणिनां पर्यायेण जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिगमनमतो विद्वत्तास्तुतिरेवेयमुपपद्यते । यत्पृष्टं कतर ✓
एष देवः स्वप्नान्यश्यतीति तदाह—

अत्रोपरतेषु श्रोत्रादिषु देहरक्षायै जाग्रत्सु प्राणादिवायुषु प्राक्सुषुप्तिप्रतिपत्तेः ।

एतस्मिन्नन्तराल एष देवोऽर्करश्मिवत्स्वात्मनि संहतश्रोत्रादिकरणः स्वप्ने महिमानं विभूतिं विषयविषयिलक्षणमनेकात्मभावगमनमनुभवति प्रतिपद्यते।

माध्वान्दिन शारदा को ऊपर भाष्य नहीं

ननु महिमानुभवने करणं मनोऽनुभवितुस्तत्कथं स्वातन्त्र्येणानुभवतीत्युच्यते, स्वतन्त्रो

✓✓ हि क्षेत्रज्ञः नैष दोषः। क्षेत्रज्ञस्य स्वातन्त्र्यस्य मनउपाधिकृतत्वान्न हि क्षेत्रज्ञः परमार्थतः स्वतः

✓✓ स्वपिति जागर्ति वा। मनउपाधिकृतमेव तस्य जागरणं स्वप्नश्चेत्युक्तं वाजसनेयके — "सधीः

स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४/३/७) इत्यादि। तस्मान्मनसो विभूत्यनुभवे

स्वातन्त्र्यवचनं न्याय्यमेव। मनउपाधिसहितत्वे स्वप्नकाले क्षेत्रज्ञस्य स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येतेति

केचित्। तत्र। श्रुत्यर्थापरिज्ञानकृता भ्रान्तिस्तेषाम्। यस्मात्स्वयंज्योतिष्ठादिव्यवहारोऽप्या-

मोक्षान्तः सर्वोऽविद्याविषय एव मनआद्युपाधिजनितः। इन्द्रियो के द्वारा विषय संसर्ग

✓ "यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (बृ० ४/३/३१) "मात्रासंसर्गस्त्वस्य

भवति।" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० २/४/१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अतो मन्दब्रह्मविदामेवेयमाशङ्का न त्वेकात्मविदाम्। नन्वेवं सत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति

✓ विशेषणमनर्थकं भवत्यत्रोच्यते। अत्यल्पमिदमुच्यते "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते"

(बृ० २/१/१७) इत्यन्तर्हृदयपरिच्छेदे सुतरां स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येत, सत्यमेवमयं दोषो

यद्यपि स्यात्स्वप्ने केवलतया स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्थं तावदपनीतं भारस्येति चेन्न।

✓ तत्रापि पुरीतति नाडीषु शेते इति श्रुतेः पुरीतति नाडीसंबन्धात्तत्रापि पुरुषस्य

✓ स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्थभारापनयाभिप्रायो मृषैव। कथं तर्ह्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति।

✓ अन्यशाखात्वादनपेक्षा सा श्रुतिरिति चेन्न। अर्थैकत्वस्येष्टत्वादेको ह्यात्मा सर्ववेदान्तानामर्थो

✓ विजिज्ञापयिषितो बुभुत्सितश्च। तस्माद्युक्ता स्वप्ने आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वोपपत्तिर्वक्तुम्,

श्रुतेर्यथार्थतत्त्वप्रकाशकत्वात्। एवं तर्हि शृणु श्रुत्यर्थं हित्वा सर्वमभिमानं न त्वभिमानेन

✓✓ वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थो ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितमन्यैः।

✓ यथा हृदयाकाशे पुरीतति नाडीषु च स्वपतस्तत्संबन्धाभावात्ततो विविच्यं दर्शयितुं

✓ शक्यत इत्यात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं न बाध्यते। एवं मनस्यविद्याकामकर्मनिमित्तोद्भूत-

वासनावति कर्मनिमित्तवासनाऽविद्ययाऽन्यद्वस्त्वन्तरमिव पश्यतः सर्वकार्यकरणेभ्यः

✓✓ प्रविविक्तस्य द्रष्टृवासनाभ्यो दृश्यरूपाभ्योऽन्यत्वेन स्वयंज्योतिष्ट्वं सुदर्पितेनापि तार्किकेण न

वारयितुं शक्यते। तस्मात्साधूक्तं मनसि प्रलीनेषु करणेष्वप्रलीने न मनसि मनोमयः

स्वप्नान्पश्यतीति।

वनबावच्छेदकवन = सकलवन.

वनबासामानाधिकरणेनवन = एकवन.

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न
 ② पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति ॥६॥

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठते।

एवं ह वै तत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥७॥

जब वह मनोदेव (नाडी में रहने वाले पित्त नामक सौर) तेज से सर्वथा अभिभूत हो जाता है तब यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता (क्योंकि उन्हें देखने का द्वार तेज से अवरुद्ध हो चुका है) उसके बाद इस शरीर में (साक्षी चैतन्य से) यह सुख जाना जाता है ॥६॥

हे सोम्य! जैसे पक्षी अपने बसरे वृक्ष की ओर जाते हैं, वैसे ही वह सब परमात्मा में स्थित हो जाता है ॥७॥

कथं महिमानमनुभवतीत्युच्यते। यन्मित्रं पुत्रादि वा पूर्वं दृष्टं तद्वासनावासितः पुत्रमित्रादिवासनासमुद्भूतं पुत्रं मित्रमिव वाऽविद्यया पश्यतीत्येवं मन्यते, तथा श्रुतमर्थं तद्वासनयाऽनुशृणोतीव, देशदिगन्तरैश्च देशान्तरैर्दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनस्तत्प्रत्यनुभवतीवाविद्यया, तथा दृष्टं चास्मिञ्जन्मन्यदृष्टं च जन्मान्तरदृष्टमित्यर्थः। अत्यन्तादृष्टे वासनानुपपत्तेः। एवं श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चास्मिञ्जन्मनि केवलेन मनसाऽनुभूतं च मनसैव जन्मान्तरेऽनुभूतमित्यर्थः। सच्च परमार्थोदकादि। असच्च मरीच्युदकादि। किं बहुनोक्तानुक्तं सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति सर्वमनोवासनोपाधिः सन्नेवं सर्वकरणात्मा मनोदेवः स्वप्नान्यथयति ॥५॥

स यदा मनोरूपो देवो यस्मिन्काले सौरेण पित्ताख्येन तेजसा नाडीशयेन सर्वतोऽभिभूतो भवति तिरस्कृतवासनाद्वारो भवति तदा सह करणैर्मनसो रश्मयो हृद्युपसंहता वासना भवन्ति। यदा मनो दार्वग्निवदविशेषविज्ञानरूपेण कृत्स्नं शरीरं व्याप्यावतिष्ठते तदा सुषुप्तो भवति। अत्रैतस्मिन्काल एष मनआख्यो देवः स्वप्नान्न दशनद्वारस्य निरुद्धत्वात्तेजसा। अथ तदैतस्मिञ्शरीरे एतत्सुखं भवति यद्विज्ञानं निराबाधमविशेषेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः ॥६॥

विज्ञानरूपं स्वरूपसुखम् : विशेष विज्ञानरूप विशेषा-
 -आवे निर्वीरस्थ दीप प्रभावसम्यक्प्रका-
 एतस्मिन्कालेऽविद्याकामकर्मनिबन्धनानि कार्यकरणानि शान्तानि भवन्ति। तेषु शान्तेः शान्तेष्वात्मस्वरूपमुपाधिभिरन्यथा विभाव्यमानमद्वयमेकं शिवं शान्तं भवतीत्येतामेवावस्थां पृथिव्याद्यविद्याकृतमात्रानुप्रवेशेन दर्शयितुं दृष्टान्तमाह -

विषयों के.

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा
च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा
चाऽऽकाशश्चाऽऽकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं
च श्रोतं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च
रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च
वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चा-
नन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ
च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च
बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च
चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च
प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥८॥

चित्रका विषय

शब्दादि पाँच गुणों से युक्त पृथिवी और उसकी गन्धतन्मात्रा, जल और रसतन्मात्रा, तेज और रूपतन्मात्रा, वायु और स्पर्शतन्मात्रा, आकाश और शब्दतन्मात्रा, नेत्र और द्रष्टव्य रूप विषय, श्रोत्र और उसका श्रोतव्य विषय शब्द घ्राण और घ्रातव्य विषय गन्ध त्वगिन्द्रिय और स्पर्श योग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण तद्ग्राह्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य वस्तु, पायु और विसर्ग जनित मल, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मनन योग्य वस्तु, बुद्धि और बोधयितव्य पदार्थ, अहङ्कार और अहङ्कार रूप विषय, चित्त और चेतनीय पदार्थ, तेज और प्रकाश्य पदार्थ, (प्रकाशक और प्रकाश के योग्य वस्तु) प्राण और उसके धारण करने योग्य वस्तु (ये सभी आत्मा में विलीन हो जाते हैं) ॥८॥

स दृष्टान्तो यथा येन प्रकारेण सोम्य प्रियदर्शन! वयांसि पक्षिणो वासार्थं वृक्षं वासोवृक्षं प्रति संप्रतिष्ठन्ते गच्छन्ति। एवं यथा दृष्टान्तो ह वै तद्वक्ष्यमाणं सर्वं परे आत्मन्यक्षरे संप्रतिष्ठते ॥७॥

किं तत्सर्वम्—

पृथिवी च स्थूला पञ्चगुणा तत्कारणा च पृथिवी मात्रा च गन्धतन्मात्रा, तथाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च। तेजश्च तेजोमात्रा च। वायुश्च वायुमात्रा च। आकाशश्चाऽऽकाशमात्रा च। स्थूलानि च सूक्ष्माणि च भूतानीत्यर्थः। तथा चक्षुश्चेन्द्रियं रूपं च द्रष्टव्यं

सुषुप्ति में जीव परमात्मा प्रश्नोपनिषत् चतुर्थः प्रश्नः को प्राप्त कर जाता है।

२६

एष हि द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता घ्राता रसयिता
मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।
स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥९॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायम्- अज्ञान रहित

यही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, चखने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है। वह (सुषुप्ति के समय जगत् के आधारभूत) पर अक्षर आत्मा में सम्यक् रूप से स्थित हो जाता है ॥९॥

हे सोम्य! (सम्पूर्ण एषणाओं से छूटा हुआ अधिकारी पुरुष) इस तमोहीन, लोहितादि सम्पूर्ण गुणों से रहित, शुभ्र अक्षर को जो जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है और सर्वरूप हो

च। श्रोत्रं च श्रोत्रव्यं च। घ्राणं च घ्रातव्यं च। रसश्च रसयितव्यं च। त्वक्च स्पर्शयितव्यं च। वाक्च वक्तव्यं च। हस्तौ चाऽऽदातव्यं च। उपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च। पायुश्च विसर्जयितव्यं च। पादौ च गन्तव्यं च। बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि तदर्थाश्चोक्ताः*। मनश्च पूर्वोक्तम्। मन्तव्यं च तद्विषयः। बुद्धिश्च निश्चयात्मिका। बोद्धव्यं च तद्विषयः। अहंकारश्चाभिमानलक्षणमन्तःकरणमहंकार्तव्यं च तद्विषयः। चित्तं च चेतनावदन्तःकरणम्। चेतयितव्यं च तद्विषयः। तेजश्च त्वगिन्द्रियव्यतिरेकेण प्रकाशविशिष्टा या त्वक्तया निर्भास्यो विषयो विद्योतयितव्यम्। प्राणश्च सूत्रं यदाचक्षते तेन विधारयितव्यं संग्रथनीयं सर्वं हि कार्यकरणजातं पारार्थ्येन संहतं नामरूपात्मकमेतावदेव ॥८॥

अतः परं यदात्मरूपं जलसूर्यकादिवद्भोक्तृत्वेनेहानुप्रविष्टम् —

एष हि द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेति करणभूतं बुद्ध्यादीदं तु विज्ञानातीति विज्ञानं कर्तृकारकरूपं तदात्मा तत्स्वभावो विज्ञातृस्वभाव इत्यर्थः। पुरुषः कार्यकरणसंघातोक्तोपाधिपूर्णत्वात्पुरुषः। स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जलाद्याधारश्रेष्ठे परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥९॥ श्रो

तदेकत्वविदः फलमाह —

परमेवाक्षरं वक्ष्यमाणविशेषणं प्रतिपद्यते इत्येतदुच्यते। स यो ह वै तत्सर्वेषणा-
विनिर्मुक्तोऽच्छायं तमोवर्जितम्। अशरीरं नामरूपसर्वोपाधिशरीरवर्जितम्। अलोहितं
लोहितादिसर्वगुणवर्जितम्। यत एवमतः शुभ्रं शुद्धं सर्वविशेषणरहितत्वात्। अक्षरं सत्यं

* 'तथा चोक्तानीति' पाठभेदः

इति श्रीमद्भगवद्गीता (शरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य।
 स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः ॥१०॥ श्लोक संघाते,
 एषणात्रयं ब्रह्मागी, तस्मै हीन, निरुणरहित, अक्षर ब्रह्म के ज्ञान का प्रकाश
 विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि अग्नि आदि.
 संप्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते, यस्तु सोम्य जो जानता है।
 स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥११॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥

जाता है, अर्थात् सर्वाधिष्ठान चैतन्य ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। इस विषय में यह श्लोक (मन्त्र) है ॥१०॥

हे सोम्य! जिस अक्षर में अग्नि आदि समस्त देवों के सहित विज्ञानात्मा प्राण और पृथिव्यादि भूत सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित होते हैं, उसे जो जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सभी में प्रविष्ट हो जाता है ॥११॥

पुरुषाख्यम्। अप्राणममनोगोचरं शिवं शान्तं सबाह्याभ्यन्तरमजं वेदयते विजानाति। यस्तु सर्वत्यागी सोम्य स सर्वज्ञो न तेनाविदितं किञ्चित्संभवति। पूर्वमविद्ययाऽसर्वज्ञ आसीत्पुनर्विद्ययाऽविद्यापनये सर्वो भवति तदा तत्तस्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति उक्तार्थसंग्राहकः ॥१०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्चाग्न्यादिभिः प्राणाश्चक्षुरादयो भूतानि पृथिव्यादीनि संप्रतिष्ठन्ति प्रविशन्ति यत्र यस्मिन्नक्षरे, तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य प्रियदर्शन स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशाऽऽविशतीत्यर्थः ॥११॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
 श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥

०० प्रतीक और वाचक; व्यापक अर्थ, छोटा नाम कनेवर दे।

अथ पञ्चमः प्रश्नः।
ओंकार उपासक किस लोक को प्राप्त करता है?

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ।

स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तर्गम्य मरणान्तम्

कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन

लोकं जयतीति तस्मै स होवाच ॥१॥

ओंकार उपासना से पर और अपर ब्रह्म की प्राप्ति

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।

तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ॥२॥

तदनन्तर इन पिप्पलाद मुनि से शिबि के पुत्र सत्यकाम ने पूछा—हे भगवन्! मनुष्यों में जो (कोई विरला) पुरुष मरणपर्यन्त ओंकार का चिन्तन करे, वह किस लोक को जीतता है ? ॥१॥

उस सत्यकाम से पिप्पलाद ने कहा— हे सत्यकाम! यह जो ओंकार है, वह निश्चय पर (सत्य अक्षर) ब्रह्म अथवा हिरण्यगर्भ रूप अपर ब्रह्म है। अतः विद्वान् उपासक (ओंकार में ब्रह्मचिन्तन रूप) इसी उपाय से पर और अपर ब्रह्म में से किसी एक को प्राप्त कर लेता है ॥२॥

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम् ॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ।

अथेदानीं परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेनोक्तोपासनविधित्सया प्रश्न आरभ्यते—

स यः कश्चिद्भ वै भगवन्मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये तदद्भुतमिव प्रायणान्तं मरणान्तं यावज्जीवमित्येतदोंकारमभिध्यायीताऽऽभिमुख्येन चिन्तयेत्। बाह्यविषयेभ्य उपसंहृतकरणः समाहितचित्तो भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ओंकारे। आत्मप्रत्ययसंतानाविच्छेदो भिन्नजातीयप्रत्ययान्तराखिलीकृतो निर्वातस्थदीपशिखासमोऽभिध्यानशब्दार्थः। सत्यब्रह्म- चर्याहिंसापरिग्रहत्यागसंन्यासशौचसंतोषामायावित्वाद्यनेकयमनियमानुगृहीतः स एवं यावज्जीवव्रतधारणः। कतमं वावानेके हि ज्ञानकर्मभिर्जेतव्या लोकास्तिष्ठन्ति तेषु तेनोपासना- भिधानेन कतमं स लोकं जयतीति पृष्ठवते तस्मै स होवाच पिप्पलादः ॥१॥

एतद्वै सत्यकाम! एतद्ब्रह्म वै परं चापरं च ब्रह्म परं सत्यमक्षरं पुरुषाख्यमपरं च प्राणाख्यं प्रथमजं यत्तदोंकार एवोंकारात्मकमोंकारप्रतीकत्वात्। परं हि ब्रह्म शब्दा-

हिरण्यगर्भ

मद्यमन्त्र गज राज क ह्ये बसकर अंकुश खर्वे ॥ नृपति.

३२

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
श एकमात्र विशिष्ट ओंकार उपासना का फल

स सद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदित-संबोधितः

स्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्य-

द्विजाग्रः लोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण एकाग्र।

श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

यदि वह एक मात्रा-विशिष्ट ओंकार का चिन्तन करता है, तो उससे बोध प्राप्त कर शीघ्र ही पृथिवी लोक में प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्यलोक को ले जाती हैं। वहाँ पर वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न होकर अपनी महिमा का अनुभव करता है ॥ ३ ॥
केचुवा = Earth worm. मिट्टी में रहता है। मिट्टी खाता है। उतनी वैभव किसी के पास नहीं।

द्युपलक्षणानर्ह सर्वधर्मविशेषवर्जितमतो न शक्यमतीन्द्रियगोचरत्वात्केवलेन मनसाऽवगा-
हितुमोंकारे तु विष्णवादिप्रतिमास्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदतीत्य-
वगम्यते शास्त्रप्रामाण्यात्तथाऽपरं च ब्रह्म। तस्मात्परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः इत्युपचर्यते।
तस्मादेवं विद्वानेतेनैवाऽऽत्मप्राप्तिसाधनेनैवोंकाराभिध्यानेनैकतरं परमपरं वाऽन्वेति ब्रह्मा-
नुगच्छति नेदिष्ठं ह्यालम्बनमोंकारो ब्रह्मणः ॥ २ ॥ अद्विक समीपवर्ती।

स यद्यप्योंकारस्य सकलमात्राविभागज्ञो न भवति तथाऽप्योंकाराभिध्यानप्रभावा-
द्विशिष्टामेव गतिं गच्छति एतदेकदेशज्ञानवैगुण्यतयोंकारशरणः कर्मज्ञानोभयभ्रष्टो न दुर्गतिं
गच्छति किं तर्हि यद्यप्येवमोंकारमेवैकमात्राविभागज्ञः एव केवलोऽभिध्यायीतैकमात्रं सदा
ध्यायीत स तेनैवैकमात्राविशिष्टोंकाराभिध्यानेनैव संवेदितः संबोधितस्तूर्णं क्षिप्रमेव जगत्यां
पृथिव्यामभिसंपद्यते। किं, मनुष्यलोकम्। अनेकानि हि जन्मानि जगत्यां संभवन्ति तत्र तं
साधकं जगत्यां मनुष्यलोकमेवर्चः उपनयन्त उपनिगमयन्ति ऋचः। ऋग्वेदरूपा ह्योंकारस्य
प्रथमैकमात्राऽभिध्याता तेन। स तत्र मनुष्यजन्मनि द्विजाग्रः संस्तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया
च संपन्नो महिमानं विभूतिमनुभवति न वीतश्रद्धो यथेष्टचेष्टो भवति, योगभ्रष्टः कदाचिदपि
न दुर्गतिं गच्छति ॥ ३ ॥

द्विमात्रम्

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं चिन्तन

यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूति-

मनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥ द्विमात्राविशिष्ट ओंकार उपासना का फल

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुष-

मभिध्यायीत स तेजसि सूर्यं संपन्नः । यथा पादोदर-

स्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः

स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवधना-

त्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ

भवतः ॥५॥

यदि वह (अ, उ, इन) दो मात्राओं से विशिष्ट ओंकार का चिन्तन करता है, तो उस चिन्तन द्वारा मन के साथ एकत्व को प्राप्त करता है, उस समय यजुर्वेद की श्रुतियों द्वारा वह अन्तरिक्ष में स्थित सोमलोक को ले जाया जाता है अर्थात् उक्त श्रुतियाँ सोमलोक संबन्धी जन्म प्राप्त करा देती हैं। तत्पश्चात् सोमलोक में विभूति का अनुभव कर वह पुरुष फिर मनुष्यलोक में लौट आता है ॥४॥

परन्तु जो पुरुष त्रिमात्रा विशिष्ट 'ॐ' इस अक्षरात्मक प्रतीक रूप से परम पुरुष की उपासना करता है वह (तृतीय मात्रा रूप होकर) तेजोमय सूर्य लोक में स्थित हो जाता है। जैसे सर्प केंचुली से छूट जाता है, वैसे ही वह उपासक निश्चय ही सम्पूर्ण पाप से मुक्त हो जाता है, फिर तो वह साम श्रुतियों के द्वारा ऊपर की ओर ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है। इस जीवन से उत्कृष्ट हृदय में स्थित परम पुरुष का दर्शन करता है, इसी विषय में ये दो श्लोक हैं ॥५॥

अथ पुनर्यदि द्विमात्राविभागज्ञो द्विमात्रेण विशिष्टमोंकारमभिध्यायीत स्वप्नात्मके मनसि मननीये यजुर्मये सोमदैवत्ये संपद्यत एकाग्रतयाऽऽत्मभावं गच्छति । स एवं संपन्नो मृतोऽन्तरिक्षमन्तरिक्षाधारं द्वितीयमात्रारूपं द्वितीयमात्रारूपैरेव यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं सौम्यं जन्म प्रापयन्ति तं यजूंषीत्यर्थः । स तत्र विभूतिमनुभूय सोमलोके मनुष्यलोकं प्रति पुनरावर्तते ॥४॥

यः पुनरेतमोङ्कारं त्रिमात्रेण त्रिमात्राविषयविज्ञानविशिष्टेनोमित्येतेनैवाक्षरेण परं सूर्यान्तर्गतं पुरुषं प्रतीकेनाभिध्यायीत तेनाभिध्यानेन, प्रतीकत्वेन ह्यालम्बनत्वं प्रकृतमोंकारस्य परं चापरं च ब्रह्मेत्यभेदश्रुतेरोंकारमिति च द्वितीयाऽनेकशः श्रुता बाध्ये-

विभूति

ओंकार की तीन

मात्राओं का

वैशिष्ट्य.

पूर्वविकल्प प्रयुक्तः

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अन- इतरेतरसंबद्धाः
विप्रयुक्ताः । क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्-
प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६॥

अकार, उकार और मकार— ये तीनों मात्राएँ भिन्न-भिन्न रहने पर मृत्यु से युक्त हैं। वे मात्राएँ ध्यान की क्रियाओं में प्रयुक्त होती हैं और वे परस्पर संबद्ध हैं तथा (विपरीत प्रयोग न किये जाने के कारण ये) अनविप्रयुक्त हैं। इस प्रकार बाह्य जाग्रत् रूप, आभ्यन्तर सुषुप्ति रूप और मध्यम स्वप्न रूप क्रियाओं में ओंकार की उक्त तीन मात्राओं का सम्यक् प्रयोग किये जाने पर विद्वान् पुरुष फिर अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता ॥६॥ इस मन्त्र में परब्रह्म और ओंकार को अविनयानकर उपारणन की ही है।

तान्यथा। यद्यपि तृतीयाभिधानत्वेन करणत्वमुपपद्यते, तथाऽपि प्रकृतानुरोधात्त्रिमात्रं परं पुरुषमिति द्वितीयैव परिणयां त्यजेदेकं कुलस्यार्थे इति न्यायेन, स तृतीयमात्रारूपस्तेजसि सूर्ये संपन्नो भवति ध्यायमानो मृतोऽपि सूर्यात्सोमलोकादिव न पुनरावर्तते, किन्तु सूर्ये संपन्नमात्र एव। यथा पादोदरः सर्पस्त्वचा विनिर्मुच्यते जीर्णत्वग्विनिर्मुक्तः स पुनर्नवो भवति। एवं ह वा एष यथा दृष्टान्तः स पाप्मना सर्पत्वक्स्थानीयेनाशुद्धिरूपेण विनिर्मुक्तः सामभिस्तृतीयमात्रारूपैरूर्ध्वमुन्नीयते ब्रह्मलोकं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो लोकं सत्याख्यम्। स हिरण्यगर्भः सर्वेषां संसारिणां जीवानामात्मभूतः। स ह्यन्तरात्मा लिङ्गरूपेण सर्वभूतानां तस्मिन्हि लिङ्गात्मनि संहताः सर्वे जीवाः। तस्मात्स जीवधनः। स विद्वांस्त्रिमात्रोंकाराभिज्ञ एतस्माज्जीवधनाद्धिरण्यगर्भात्परात्परं परमात्माख्यं पुरुषमीक्षते पुरीशयं सर्वशरीरानुप्रविष्टं पश्यति ध्यायमानः। तदेतस्मिन्यथोक्तार्थप्रकाशकौ मन्त्रौ भवतः ॥५॥

रि

तिस्रस्त्रिसंख्याका अकारोकारमकाराख्या ओंकारस्य मात्राः। मृत्युमत्यः, मृत्युर्यासां

विद्यते ता मृत्युमत्यो मृत्युगोचरादनतिक्रान्ता मृत्युगोचरा एवेत्यर्थः। ता आत्मनो ध्यानक्रियासु प्रयुक्ताः। किंचान्योन्यसक्ता इतरेतरसंबद्धाः। अनविप्रयुक्ता विशेषेणैकैकविषये एव प्रयुक्ता प्रयोगमें मात्रा गयी
विप्रयुक्ताः न तथा विप्रयुक्ता अविप्रयुक्ता नाविप्रयुक्ता अनविप्रयुक्ताः। किं तर्हि विशेषे-
णैकैकस्मिन्ध्यानकाले तिसृषु क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानपुरुषा-
भिध्यानलक्षणासु योगक्रियासु सम्यक्प्रयुक्तासु सम्यग्ध्यानकाले प्रयोजितासु न कम्पते न
चलति ज्ञो योगी यथोक्तविभागज्ञ ओंकारस्येत्यर्थः। न तस्यैवंविदश्चलनमुपपद्यते। यस्-

त्यजेदेकं कुलस्यार्थं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मास्यार्थं सत्त्वं त्यजेत् ॥ नीति श्लोक. हितोपदेश

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो
वेदयन्ते। तमोंकारेणैवाऽऽयतनेनान्वेति विद्वान्यत्त-
च्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि पञ्चमः प्रश्नः ॥ ५ ॥

साधक ऋग्वेद द्वारा इस मनुष्य उपलक्षित लोक को यजुर्वेद द्वारा सोम से अधिष्ठित
अन्तरिक्ष लोक को और सामवेद द्वारा उस तृतीय ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है जिसे विद्वान् लोग
ही जानते हैं तथा ओंकार रूप आलम्बन के द्वारा ही विद्वान् उस लोक को प्राप्त होता है। जो
स्थूल सूक्ष्म प्रपंच से रहित, अजर, अमर, अभय, एवं सबसे परे है। मन्त्र में इति शब्द प्रश्न
समाप्ति का द्योतक है ॥ ७ ॥

॥ इति पञ्चमः प्रश्नः ॥

माज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपुरुषाः सह स्थानैर्मात्रात्रयरूपेणोंकारात्मरूपेण दृष्टाः^स होवन् विद्वान्सर्वात्म-
भूत ओंकारमयः कुतो वा चलेत्कस्मिन्वा ॥ ६ ॥

सर्वार्थसंग्रहार्थो द्वितीयो मन्त्रः—

ऋग्भिरेतं लोकं मनुष्योपलक्षितम्। यजुर्भिरन्तरिक्षं सोमाधिष्ठितम्। सामभिर्य-
त्तद्ब्रह्मलोकमिति तृतीयं कवयो मेधाविनो विद्यावन्तः एव, नाविद्वांसो वेदयन्ते। तं त्रिविधं
लोकमोंकारेण साधनेनापरब्रह्मलक्षणमन्वेत्यनुगच्छति विद्वान्। तेनैवोंकारेण यत्तत्परं ✓
ब्रह्माक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं शान्तं विमुक्तं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिविशेषसर्वप्रपञ्चविवर्जितमतः ✓
एवाजरं, जरावर्जितममृतं मृत्युवर्जितमतः एव यस्माज्जराविक्रियादिरहितमतोऽभयम्।
यस्मादेवाभयं तस्मात्परं निरतिशयम्। तदप्योंकारेणाऽऽयतनेन गमनसाधनेनान्वेतीत्यर्थः। ✓
इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकर-
भगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये पञ्चमः प्रश्नः ॥ ५ ॥

शौच से राम जी के लंका जीता
सौन्दर्य से " " अननक पुरी जीता
शीतल से " " अशोद्धा जीता

16 कुण्डल. चन्द्रमा का 16 कला
चन्द्र वंशी.

12 कला वाला राम.
सूर्य वंश. 12 राशी में चलता है

सोलह कला वाला पुरुष कौन है?

अथ षष्ठः प्रश्नः ।

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन्हिरण्य-
नाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत ।
षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं
नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति
समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवादति तस्मा-
न्नाहाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज ।

तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

(+) न हि असंख्य सम पातक पुञ्जा गिरि सम द्रोणि हि कोटिक पुञ्जा ।

उसके बाद उन पिप्पलाद मुनि से भारद्वाज के पुत्र सुकेशा ने पूछा— हे भगवन्! कौशल देश के राजकुमार हिरण्यनाभ ने मेरे पास आकर इस प्रश्न को पूछा था कि हे भारद्वाज! तुम सोलह कला वाले पुरुष को जानते हो? मैंने उस राजकुमार से कहा— मैं इसे नहीं जानता हूँ। यदि मैं इसे जानता होता तो भला सर्वगुण सम्पन्न तुझ शिष्य को क्यों नहीं बतलाता। जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है, वह मूल के सहित सर्वथा सूख जाता है। अतः मैं तुझसे छिपाने के लिए मिथ्या भाषण नहीं कर रहा हूँ। इतना सुनने पर वह राजकुमार चुपचाप रथ में बैठ कर चला गया। (तब से मेरे हृदय में वह ज्ञातव्य रूप से काँटे के समान खटक रहा है) अतः अब मैं उसके विषय में आपसे पूछता हूँ कि वह जानने योग्य षोडशकला पुरुष कहाँ रहता है? ॥ १ ॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ, समस्तं जगत्कार्यकारणलक्षणं सह विज्ञानात्मना

✓ परस्मिन्नक्षरे सुषुप्तिकाले संप्रतिष्ठि-(ष्ठ)-ते इत्युक्तम् । सामर्थ्यात्प्रलयेऽपि तस्मिन्नेवाक्षरे
संप्रतिष्ठते जगत्तत एवोत्पद्यत इति सिद्धं भवति । न ह्यकारणे कार्यस्य संप्रतिष्ठानमुपपद्यते ।
उक्तं च— "आत्मन एष प्राणो जायते" इति । जगत्तश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति
✓ सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः । अनन्तरं चोक्तं स सर्वज्ञः सर्वो भवतीति । वक्तव्यं च क्व तर्हि
✓ तदक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं विज्ञेयमिति । तदर्थोऽयं प्रश्न आरभ्यते । वृत्तान्वाख्यानं च विज्ञानस्य
दुर्लभत्वख्यापनेन तल्लब्धर्थं मुमुक्षूणां यत्नविशेषोत्पादनार्थम् ।

हे भगवन्हिरण्यनाभो नामतः कौसलायां भवः कौसल्यो राजपुत्रो जातितः क्षत्रियो
मामुपेत्योपगम्यैतमुच्यमानं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं षोडशसंख्याकाः कला अवयवा

अपूर्वता

तस्मै स होवाच ॥ इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो

यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

यहाँ का आद्य बृहदारण्यक में भी जटित.

माया विज्ञान-चैतन्य.

उस सुकेशा से आचार्य पिप्पलाद ने कहा— हे सोम्य! जिस पुरुष में (आगे बताये जाने वाले) इन षोडश कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ है, वह पुरुष इस शरीर के भीतर रहता है। (वह पुरुष कलाहीन होते हुए भी इन उपाधिभूत सोलह कलाओं के कारण कलावान् सा दीखता है। अब विद्या से अविद्या की निवृत्ति करके उसके शुद्ध रूप को दिखलाना है। इसलिए प्राणादि कलाओं का उसी से उत्पन्न होना कहा गया है) ॥२॥

✓ इवाऽऽत्मन्यविद्याध्यारोपितरूपा यस्मिन्पुरुषे, सोऽयं षोडशकलस्तं षोडशकलं हे भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ विजानासि। तमहं राजपुत्रं कुमारं पृष्ठवन्तमब्रुवमुक्तवानस्मि नाहमिमं वेद यं त्वं पृच्छसीति। एवमुक्तवत्यपि मय्यज्ञानमसंभावयन्तं तमज्ञाने कारणमवादिषम्। यदि कथंचिदहमिमं त्वया पृष्ठं पुरुषमवेदिषं विदितवानस्मि कथमत्यन्तशिष्यगुणवतेऽर्थिने ते तुभ्यं नावक्ष्यं नोक्तवानस्मि न ब्रूयामित्यर्थः। भूयोऽप्यप्रत्ययमिवाऽऽलक्ष्य प्रत्याययितुमब्रुवम्। समूलः सह मूलेन वा एषोऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा कुर्वन्ननृतमयथा-
विज्ञान के विज्ञान के
भूतार्थमभिवदति यः, स परिशुष्यति शोषमुपैतीहलोकपरलोकाभ्यां विच्छिद्यते विनश्यति। यतः
एवं जाने, तस्मान्नार्हाम्यहमनृतं वक्तुं मूढवत्। स राजपुत्रः एवं प्रत्यायितस्तूष्णीं ब्रीडितो लज्जित-
रथमारुह्य प्रवव्राज प्रगतवान्यथागतमेव। अतो न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या
वक्तव्यैवानृतं च न वक्तव्यं सर्वास्वप्यवस्थास्वित्येतत्सिद्धं भवति। तं पुरुषं त्वा त्वां पृच्छामि
मम हृदि विज्ञेयत्वेन शल्यमिव स्थितं क्वासौ वर्तते विज्ञेयः पुरुष इति ॥१॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे हृदयपुण्डरीकाकाशमध्ये हे सोम्य स पुरुषो न देशान्तरे विज्ञेयो यस्मिन्नेता उच्यमानाः षोडश कलाः प्राणाद्याः प्रभवन्त्युत्पद्यन्त इति षोडशकलाभिरुपाधिभूताभिः सकल इव निष्कलः पुरुषो लक्ष्यतेऽविद्ययेति तदुपाधिकला-
ध्यारोपापनयेन विद्यया स पुरुषः केवलो दर्शयितव्यः इति कलानां तत्प्रभवत्वमुच्यते।
प्राणादीनामत्यन्तनिर्विशेषे ह्यद्वये शुद्धे तत्त्वे न शक्योऽध्यारोपमन्तरेण प्रतिपाद्य-प्रति-
पादनादिव्यवहारः कर्तुमिति कलानां प्रभवस्थित्यप्यया आरोप्यन्तेऽविद्याविषयाश्चैतन्या-
व्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रलीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते। अत एव भ्रान्ताः केचिदग्निसंयोगाद्घृतमिव घटाद्याकारेण चैतन्यमेव प्रतिक्षणं जायते नश्यतीति।

निरोध हो जाने पर

तन्निरोधे शून्यमिव सर्वमित्यपरे। घटादिविषयं चैतन्यं चेतयितुर्नित्यस्याऽऽत्मनोऽनित्यं जायते, विनश्यतीत्यपरे। चैतन्यं भूतधर्म इति लौकायतिकाः। आत्मा का गुण चैतन्य एवं ज्ञान।

✓ उत्पत्ति नाशरूप धर्म से रहित

अनपायोपजनधर्मकचैतन्यमात्मैव नामरूपाद्युपाधिधर्मैः प्रत्यवभासते। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। (तै० २/१/१) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० ५/३) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"। "(बृ० ३/९/२८) विज्ञानघन एव" (बृ० २/४/१२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। स्वरूपव्यभिचारिषु पदार्थेषु चैतन्यस्याव्यभिचाराद्यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वं वस्तु च भवति, किञ्चिन्न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्।

रूपं च दृश्यते न चास्ति चक्षुरिति यथा। व्यभिचरति तु ज्ञेयं ज्ञानं न व्यभिचरति कदाचिदपि ज्ञेयम्। ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञेयान्तरे भावाज्ज्ञानस्य। न हि ज्ञानेऽसति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्। सुषुप्तेऽदर्शनाज्ज्ञानस्यापि सुषुप्तेऽभावाज्ज्ञेयवज्ज्ञानस्वरूपस्य व्यभिचार इति चेन्न। ज्ञेयावभासकस्य ज्ञानस्याऽऽलोकवज्ज्ञेयाभिव्यञ्जकत्वात्स्वव्यङ्ग्याभावे आलोकाभावानुपपत्तिवत्सुषुप्ते विज्ञानाभावानुपपत्तेः। प्रकाश्य वस्तु अभावमे प्रकाशाभाव नहीयमा। सुषुप्तिमे वस्तु अभावमे विज्ञानाभाव नहीयमा।

न ह्यन्धकारे चक्षुषा रूपानुपलब्धौ चक्षुषोऽभावः शक्यः कल्पयितुं वैनाशिकेन। वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं कल्पयत्येवेति चेद्येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्प्यत इति वक्तव्यं वैनाशिकेन।

तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः। ज्ञानस्य ज्ञेयाव्यतिरिक्तत्वाज्ज्ञेयाभावे ज्ञानाभाव इति चेन्न। अभावस्यापि ज्ञेयत्वाभ्युपगमादभावोऽपि ज्ञेयोऽभ्युपगम्यते वैनाशिकैर्नित्यश्च तदव्यतिरिक्तं चेज्ज्ञानं नित्यं कल्पितं स्यात्तदभावस्य च ज्ञानात्मकत्वादभावत्वं वाङ्मात्रमेव, न परमार्थतोऽभावत्वमनित्यत्वं च ज्ञानस्य। न च नित्यस्य ज्ञानस्याभावनाममात्राध्यारोपे किञ्चिन्नशिष्टम्।

अथाभावो ज्ञेयोऽपि सज्ज्ञानव्यतिरिक्त इति चेन्न तर्हि ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावः ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं न तु ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तमिति चेन्न। शब्दमात्रत्वाद्विशेषानुपपत्तेः। ज्ञेयज्ञानयोरेकत्वं चेदभ्युपगम्यते ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तं नेति तु शब्दमात्रमेतद्वह्निरग्निरव्यतिरिक्तोऽग्निरनं वह्निव्यतिरिक्त इति यद्वदभ्युपगम्यते, ज्ञेयव्यतिरेके तु ज्ञानस्य ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावानुपपत्तिः सिद्धा।

ज्ञेयाभावेऽदर्शनादभावो ज्ञानस्येति चेन्न। सुषुप्ते ज्ञप्त्यभ्युपगमात्। वैनाशिकैरज्ञानस्यापि अभावः, आत्मय विज्ञान रूपः।

भ्युपगम्यते हि सुषुप्तेऽपि ज्ञानास्तित्वं, तत्रापि ज्ञेयत्वमभ्युपगम्यते ज्ञानस्य स्वेनैवेति चेन्न। भेदस्य सिद्धत्वात्। सिद्धं ह्यभावविज्ञेयविषयस्य ज्ञानस्याभावज्ञेयव्यतिरेकाज्ञेय-ज्ञानयोरन्यत्वम्। *अभाव विषय ज्ञान और ज्ञेय से भिन्न।*

एक से

न हि तत्सिद्धं मृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथा कर्तुं शक्यते वैनाशिकशतैरपि ज्ञानस्य ज्ञेयत्वमेवेति तदप्यन्येन तदप्यन्येनेति त्वत्पक्षेऽतिप्रसङ्ग इति चेन्न। तद्विभागोपपत्तेः सर्वस्य। यदा हि सर्वं ज्ञेयं कस्यचित्तदा तदव्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञानमेवेति द्वितीयो विभाग एवाभ्युपगम्यतेऽवैनाशिकैर्न तृतीयस्तद्विषये इत्यनवस्थानुपपत्तिः। *हृष्टिकवादी*

ज्ञानस्य स्वेनैवाविज्ञेयत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति चेत्सोऽपि दोषस्तस्यैवास्तु किं तन्निर्वहणेनास्माकमनवस्थादोषश्च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमादवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम्।

स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थाऽनिवार्या। समान एवायं दोष इति चेन्न। ज्ञानस्यैकत्वोपपत्तेः। सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात्सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासत इति। नासौ दोषः चेहेदमुच्यते। ✓

ननु श्रुतेरिहैवान्तःशरीरे परिच्छिन्नः कुण्डबदरवत्पुरुष इति न। प्राणादिकलाकारणत्वात्। न हि शरीरमात्रपरिच्छिन्नस्य प्राणश्रद्धादीनां कलानां कारणत्वं प्रतिपत्तुं शक्नुयात्। कलाकार्यत्वाच्च शरीरस्य। न हि पुरुषकार्याणां कलानां कार्यं सच्छरीरं कारणकारणं स्वस्य पुरुषं कुण्डं बदरमिवाभ्यन्तरी कुर्यात्, बीजादिवत्स्यादिति चेत्।

यथा बीजकार्यं वृक्षस्तत्कार्यं च फलं स्वकारणकारणं बीजमभ्यन्तरीकरोत्याग्रादि तद्वत्पुरुषमभ्यन्तरीकुर्याच्छरीरं स्वकारणकारणमपीति चेन्न। अन्यत्वात्सावयवत्वाच्च। दृष्टान्ते कारणबीजादवृक्षफलसंवृत्तान्यन्यान्येव बीजानि दार्ष्टान्तिके तु स्वकारणकारणभूतः स एव पुरुषः शरीरेऽभ्यन्तरीकृतः श्रूयते।

बीजवृक्षादीनां सावयवत्वाच्च स्यादाधाराधेयत्वं निरवयवश्च पुरुषः, सावयवाश्च कलाः शरीरं च, एतेनाऽऽकाशस्यापि शरीराधारत्वमनुपपन्नं किमुताऽऽकाशकारणस्य पुरुषस्य तस्मादसमानो दृष्टान्तः। किं दृष्टान्तेन, वचनात्स्यादिति चेन्न। *वचनस्याकारकत्वात्।* न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते। किं तर्हि यथाभूतार्थावद्योतने। तस्मादन्तः-शरीर इत्येतद्वचनमण्डस्यान्तर्व्योमेतिवच्च द्रष्टव्यम्। उपलब्धिनिमित्तत्वाच्च दर्शनश्रवणमनन-

शास्त्राद्

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भवि-
ष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

उस षोडश कला पुरुष ने ईक्षण (विचार) किया कि किस विशेष कर्ता के उत्क्रमण करने पर मैं भी शरीर से उत्क्रमण कर जाऊँगा । वैसे ही शरीर में किसके स्थित रहने पर मैं भी स्थित रहूँगा ॥ ३ ॥

विज्ञानादिलिङ्गैरन्तःशरीरे परिच्छिन्ने इव ह्युपलभ्यते पुरुष उपलभ्यते चातः उच्यतेऽन्तः-
शरीरे सोम्य स पुरुष इति । न पुनराकाशकारणः सन्कुण्डबदरवच्छरीरपरिच्छिन्न इति
मनसाऽपीच्छति वक्तुं मूढोऽपि किमुत प्रमाणभूता श्रुतिः ॥ २ ॥

यस्मिन्नेता षोडश कलाः प्रभवन्तीत्युक्तं पुरुषविशेषणार्थं कलानां प्रभवः स
चान्यार्थोऽपि श्रुतः केन क्रमेण स्यादित्यत इदमुच्यते—

चेतनपूर्विका च सृष्टिरित्येवमर्थं च पुरुषः षोडशकलः पृष्ठो यो भारद्वाजेन, स
ईक्षांचक्रे ईक्षणं दर्शनं चक्रे कृतवानित्यर्थः ॥ सृष्टिफलक्रमादिविषयम् । कथमित्युच्यते,
कस्मिन्कर्तृविशेषे देहादुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्याम्यहमेव (वं) कस्मिन्वा शरीरे प्रतिष्ठितेऽहं
प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठितः स्यामित्यर्थः ।

नन्वात्माऽकर्ता प्रधानं कर्तृ, अतः पुरुषार्थं प्रयोजनमुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तते
महदाद्याकारेण, तत्रेदमनुपपन्नं पुरुषस्य स्वात्मन्येनेक्षापूर्वकं कर्तृत्ववचनं सत्त्वादिगुणसाम्ये
प्रधाने* कर्तृत्वे साधनाभावादात्मन आत्मन्यनर्थकर्तृत्वानुपपत्तेश्च । न हि चेतनावान्बुद्धि-
पूर्वकार्यात्मनोऽनर्थं कुर्यात् ।

तस्मात्पुरुषार्थेन प्रयोजनेनेक्षापूर्वकमिव नियतक्रमेण प्रवर्तमानेऽचेतने प्रधाने चेतन-
वदुपचारोऽयं स ईक्षांचक्रे इत्यादिः । यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये राजेति तद्वत् । न, आत्मनो
भोक्तृत्ववत्कर्तृत्वोपपत्तेः । यथा सांख्यस्य चिन्मात्रस्यापरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वं
तद्वद्वेदवादिनामीक्षादिपूर्वकं जगत्कर्तृत्वमुपपन्नं श्रुतिप्रामाण्यात् ।

तत्त्वान्तरपरिणाम आत्मनोऽनित्यत्वाशुद्धत्वानेकत्वनिमित्तो न चिन्मात्रस्वरूप-
विक्रियाऽतः पुरुषस्य स्वात्मन्येव भोक्तृत्वे चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया न दोषाय ।
भवतां पुनर्वेदवादिनां सृष्टिकर्तृत्वे तत्त्वान्तरपरिणामैः एवेत्यात्मनोऽनित्यत्वादिसर्व-
दोषप्रसङ्ग इति चेन्न । एकस्याप्यात्मनोऽविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुपाधिकृतविशेषा-

* प्रमाणोपपत्तेः सृष्टिकर्तृरिति शतीश्वरेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुषु सत्त्वात्मनोऽप्येकत्वेन

भ्युपगमादविद्याकृतनामरूपोपाधिकृतो हि विशेषोऽभ्युपगम्यते, आत्मनो बन्धमोक्षा-
दिशास्त्रकृतसंव्यवहाराय परमार्थतोऽनुपाधिकृतं च तत्त्वमेकमेवाद्वितीयमुपादेयं
सर्वतार्किकबुद्ध्यनवगाह्यमभयं शिवमिष्यते, न तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा क्रियाकारकफलं च
स्यादद्वैतत्वात्सर्वभावानाम्। सांख्यास्त्वविद्याध्यारोपितमेव पुरुषे कर्तृत्वं क्रियाकारकं फलं
चेति कल्पयित्वाऽऽगमबाह्यत्वात्पुनस्तत्सूत्रस्यन्तः परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्येच्छन्ति
तत्त्वान्तरं च प्रधानं पुरुषात्परमार्थवस्तुभूतमेव कल्पयन्तोऽन्यतार्किककृतबुद्धिविषयाः सन्तो
विहन्यन्ते।

तथेतरे तार्किकाः सांख्यैरित्येवं परस्परविरुद्धार्थकल्पनातः आमिषार्थिन इव
प्राणिनोऽन्योन्यविरुद्धमानार्थदर्शित्वात्परमार्थतत्त्वाददूरमेवापकृष्यन्तेऽतस्तन्मतमनादृत्य
वेदान्तार्थतत्त्वमेकत्वदर्शनं प्रत्यादरवन्तो मुमुक्षवः स्युरिति तार्किकमतदोषप्रदर्शनं
किञ्चिदुच्यतेऽस्माभिर्न तु तार्किकवत्तात्पर्येण।

तथैतदत्रोक्तम्—

“विवदत्स्वेव निक्षिप्य विरोधोद्भवकारणम्।

तैः संरक्षितसद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवित्”॥

किञ्च भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विक्रिययोर्विशेषानुपपत्तिः। का नामासौ कर्तृत्वाज्जात्यन्तर-
भूता भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया, यतो भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते, न कर्ता, प्रधानं तु कर्त्रेव,
न भोक्त्रिति।

ननूक्तं पुरुषश्चिन्मात्र एव स च स्वात्मस्थो विक्रियते भुञ्जानो न तत्त्वान्तर-
परिणामेन। प्रधानं तु तत्त्वान्तरपरिणामेन विक्रियतेऽतोऽनेकमशुद्धमचेतनं चेत्यादिधर्मव-
त्तद्विपरीतः पुरुषः। नासौ विशेषो, वाङ्मात्रत्वात्, प्राग्भोगोत्पत्तेः केवलचिन्मात्रस्य
पुरुषस्य भोक्तृत्वं नाम विशेषो भोगोत्पत्तिकाले चेज्जायते निवृत्ते च भोगे पुनस्तद्विशेषा-
दपेतश्चिन्मात्र एव भवतीति चेन्महदाद्याकारेण च परिणम्य प्रधानं ततोऽपेत्य पुनः प्रधानं
स्वरूपेणावतिष्ठते इत्यस्यां कल्पनायां न कश्चिद्विशेषः इति वाङ्मात्रेण प्रधानपुरुषयो-
र्विशिष्टविक्रिया कल्प्यते।

अथ भोगकालेऽपि चिन्मात्र एव प्राग्वत्पुरुष इति चेन्न, तर्हि परमार्थतो भोगः
पुरुषस्य भोगकाले चिन्मात्रस्य विक्रिया परमार्थैव तेन भोगः पुरुषस्येति चेन्न। प्रधान-

स्यापि भोगकाले विक्रियावत्त्वाद्भोक्तृत्वप्रसङ्गः । चिन्मात्रस्यैव विक्रिया भोक्तृत्वमिति चेदौष्ण्याद्यसाधारणधर्मवतामग्न्यादीनामभोक्तृत्वे हेतुन उपपत्तिः ।

प्रधानपुरुषयोर्द्वयोर्युगपद्भोक्तृत्वमिति चेन्न । प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तेः । न हि भोक्तृद्वयोरितरेतरगुणप्रधानभाव उपपद्यते प्रकाशयोरिवेतिरेतरप्रकाशने । भोगधर्मवति सत्त्वाङ्गिनि चेतसि पुरुषस्य चैतन्यप्रतिबिम्बोदयोऽविक्रियस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वमिति चेन्न । पुरुषस्य विशेषाभावे भोक्तृत्वकल्पनानर्थक्यात् ।

भोगरूपश्चेदनर्थः पुरुषस्य नास्ति, सदा निर्विशेषत्वात्पुरुषस्य कस्यापनयनार्थं मोक्ष-
साधनं शास्त्रं प्रणीयते विद्याधारोपितानर्थानपनयनाय शास्त्रप्रणयनमिति चेत्परमार्थतः
पुरुषो भोक्तैव, न कर्ता प्रधानं कर्त्रेव न भोक्तृ परमार्थसद्वस्त्वन्तरं पुरुषाच्चेतीयं
कल्पनाऽऽगमबाह्या व्यर्था निर्हेतुका चेति नाऽऽदत्तव्या मुमुक्षुभिः ।

एकत्वेऽपि शास्त्रप्रणयनाद्यानर्थक्यमिति चेन्नाभावात् । सत्सु हि शास्त्रप्रणेत्रादिषु तत्फलार्थिषु च शास्त्रस्य प्रणयनमनर्थकं सार्थकं वेति विकल्पना स्यात् । न ह्यात्मैकत्वे शास्त्रप्रणेत्रादयस्ततो भिन्नाः सन्ति, तदभावे एवं विकल्पनैवानुपपन्ना । अभ्युपगतौ आत्मैकत्वे प्रमाणार्थश्चाभ्युपगतो भवता यदात्मैकत्वमभ्युपगच्छता । तदभ्युपगमे च विकल्पानुपपत्तिमाह शास्त्रं "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० २/४/१४) इत्यादि । शास्त्रप्रणयनाद्युपपत्तिं चाऽऽहान्यत्र परमार्थवस्तुस्वरूपादविद्याविषये, "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० २/४/१४) इत्यादि विस्तरतो वाजसनेयके ।

अत्र च विभक्ते विद्याविद्ये परापरे इत्यादावेव शास्त्रस्यातो न तार्किकवादभट-
प्रवेशो वेदान्तराजप्रमाणबाहुगुप्ते इहात्मैकत्वविषये इति । एतेनाविद्याकृतना-
मरूपाधिकृतानेकशक्तिसाधनकृतभेदवत्त्वादब्रह्मणः सृष्ट्यादिकर्तृत्वे साधनाद्यभावो
दोषः प्रत्युक्तो वेदितव्यः परैरुक्त आत्मानर्थकर्तृत्वादिदोषश्च ।

यस्तु दृष्टान्तो राज्ञः सर्वार्थकारिणि कर्तर्युपचाराद्राजा कर्तेति सोऽत्रानुपपन्नः ।
स ईक्षां चक्रे इति श्रुतेर्मुख्यार्थबाधनात्प्रमाणभूतायाः । तत्र हि गौणी कल्पना शब्दस्य, यत्र
मुख्यार्थो न संभवति । इह त्वचेतनस्य मुक्तबद्धपुरुषविशेषापेक्षया कर्तृकर्मदेशकालुनि-
मित्तापेक्षया च बन्धमोक्षादिफलार्था नियता पुरुषं प्रति प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । यथोक्तसर्व-
ज्ञेश्वरकर्तृत्वपक्षे तूपपन्ना ॥ ३ ॥

वर्षेति जल लक्षै कर्षेति जल लक्षै नकोई (तय)

सृष्टि का क्रम

प्रश्नोपनिषत् षष्ठः प्रश्नः

83

समर्पित
हिरण्यगर्भ
बुद्धमर्थ
कर्मोत्त

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः

पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म

लोका लोकेषु च नाम च॥४॥

समुद्र के समान सम्पूर्ण जगत को आराम परमात्मा है। सृष्टि एवं तय जिससे होता है।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं

उस पुरुष ने सर्वप्रथम प्राण की रचना की, पुनः प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन और अन्न को बनाया, एवं अन्न से वीर्य रूप बल, (अन्तःकरण शुद्धि के साधन) तप, तप के साधन ऋगादि मन्त्र, अग्निहोत्रादि कर्म और कर्म के फलस्वरूप लोक, को तथा लोकों में प्राणियों के देवदत्तादि नाम को उत्पन्न किया॥४॥

जैसे समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली ये नदियाँ समुद्र में पहुँच कर लीन हो जाती

ईश्वरेणैव सर्वाधिकारी प्राणः पुरुषेण सृज्यते। कथं स पुरुष उक्तप्रकारेणोक्षित्वा सर्वप्राणां हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणिकरणाधारमन्तरात्मानमसृजत सृष्टवान्। अतः प्राणाच्छ्रद्धां सर्वप्राणिनां शुभकर्मप्रवृत्तिहेतुभूताम्। ततः कर्मफलोपभोगसाधनाधिष्ठानानि कारणभूतानि महाभूतान्यसृजत। खं शब्दगुणम्। वायुं स्वेन स्पर्शेन कारणगुणेन च विशिष्टं द्विगुणम्। तथा ज्योतिः स्वेन रूपेण पूर्वाभ्यां च विशिष्टं त्रिगुणं, शब्दस्पर्शाभ्याम्। तथाऽऽपो रसेन गुणेनासाधारणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन चतुर्गुणाः। तथा गन्धगुणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च पञ्चगुणा पृथिवी। तैरेव भूतैरारब्धमिन्द्रियं द्विप्रकारं बुद्ध्यर्थं कर्मार्थं च दशसंख्यम्। तस्य चेश्वरमन्तःस्थं संशयसंकल्पलक्षणं मनः। एवं प्राणिनां कार्यं करणं च सृष्ट्वा तत्स्थित्यर्थं ब्रीहियवादिलक्षणमन्नम्। ततश्चान्नादद्यमानाद्वीर्यं सामर्थ्यं बलं सर्वकर्मप्रवृत्तिसाधनम्। तद्वीर्यवतां च प्राणिनां तपो विशुद्धिसाधनं संकीर्यमाणानां, मन्त्रास्तपोविशुद्धान्तर्बहिःकरणेभ्यः कर्मसाधनभूता ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः। ततः कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम्। ततो लोकाः कर्मणां फलम्। तेषु च सृष्टानां प्राणिनां नाम च देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि। एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्यादिदोषबीजापेक्षया सृष्टास्तैमिरिकदृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रमशकमक्षिकाद्याः स्वप्नदृक्सृष्टा इव च सर्वपदार्थाः पुनस्तस्मिन्नेव पुरुषे प्रलीयन्ते हित्वा नामरूपादिविभागम्॥४॥

कथम्—

स दृष्टान्तः। यथा लोके इमा नद्यः स्यन्दमानाः स्रवन्त्यः समुद्रायणाः समुद्रोऽयनं

प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र
इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश-
-कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते
चाऽऽसां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषो-
ऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥५॥

मरण दुःख की निवृत्ति में ब्रह्म ज्ञान का उपयोग।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। (तं वेद्यं

हैं अर्थात् उनके नाम रूप नष्ट हो जाते हैं और वे 'समुद्र— ऐसा कह कर ही पुकारी जाती हैं, इसी प्रकार सर्व द्रष्टा की सर्वाधिष्ठान पुरुष में लीन होने वाली ये सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त कर लीन हो जाती हैं। उन कलाओं के नाम रूप नष्ट हो जाते हैं और वे पुरुष ऐसा कह कर पुकारी जाती हैं। ऐसा जानने वाला वह विद्वान् भी कलाहीन और अमर हो जाता है। इसी संबन्ध में यह अग्रिम श्लोक प्रसिद्ध है ॥५॥

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं, वैसे ही जिसमें उक्त सब कलाएँ स्थित रहती हैं (अर्थात् उनकी उत्पत्ति स्थिति और लायका एक मात्र आधार वह पुरुष ही है) इस ज्ञातव्य

गतिरात्मभावो यासां ताः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्योपगम्यास्तं नामरूपतिरस्कारं गच्छन्ति।
तासां चास्तं गतानां भिद्येते विनश्यतो नामरूपे गङ्गायमुनेत्यादिलक्षणे। तदुभेदे समुद्र ६+३५
इत्येवं प्रोच्यते तद्वस्तूदकलक्षणमेवं यथाऽयं दृष्टान्तः। उक्त लक्षणस्य प्रकृतस्यास्य
पुरुषस्य परिद्रष्टुः परिसमन्ताद्द्रष्टुर्दर्शनस्य कर्तुः स्वरूपभूतस्य यथाऽर्कः स्वात्मप्रकाशस्य कर्ता
सर्वतस्तद्वदिमाः षोडश कलाः प्राणाद्या उक्ताः कलाः पुरुषायणा नदीनामिव समुद्रः
पुरुषोऽयनमात्मभावगमनं यासां कलानां ताः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य पुरुषात्मभावमुपगम्य
तथैवास्तं गच्छन्ति। भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे कलानां प्राणाद्याख्या रूपं च यथास्वम्।
भेदे च नामरूपयोर्यदनष्टं तत्त्वं पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ब्रह्मविद्भिः। य एवं विद्वान्गुरुणा
प्रदर्शितकलाप्रलयमार्गः स एष विद्यया प्रविलापितास्वविद्याकामकर्मजनितासु
प्राणादिकलास्वकलोऽविद्याकृतकलानिमित्तो हि मृत्युस्तदपगमेऽकलत्वादेवामृतो भवति,
तदेतस्मिन्नर्थे एष श्लोकः ॥५॥

अरा रथचक्रपरिवारा इव रथनाभौ रथचक्रस्य नाभौ यथाप्रवेशितास्तदाश्रया
भवन्ति यथा तथेत्यर्थः। कलाः प्राणाद्या यस्मिन्पुरुषे प्रतिष्ठिता उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु

विज्ञानाम्यहमेतत् । नातोऽस्मात्परमस्ति प्रकृष्टतरं वेदितव्यमित्येवमुक्तवाञ्छिष्याणामवि-
दितशेषास्तित्वाशङ्कानिवृत्तये, कृतार्थबुद्धिजननार्थं च ॥७॥

ततस्ते शिष्या गुरुणाऽनुशिष्टास्तं गुरुं कृतार्थाः सन्तो विद्यानिष्क्रयमपश्यन्तः किं
कृतवन्त इत्युच्यते—अर्चयन्तः पूजयन्तः पादयोः पुष्पाञ्जलिप्रकिरणेन प्रणिपातेन च शिरसा,
किम्, ऊचुरित्याह—त्वं हि नोऽस्माकं पिता ब्रह्मशरीरस्य विद्यया जनयितृत्वान्नित्य-
स्याजरामरस्याभयस्य । यस्त्वमेवास्माकमविद्याया विपरीतज्ञानाज्जन्मजरामरणरोगदुः-
खादिग्रहादविद्यामहोदधेर्विद्याप्लवेन परमपुनरावृत्तिलक्षणं मोक्षाख्यं महोदधेरिव
पारं तारयस्यस्मान्नित्यतः पितृत्वं तवास्मान्प्रत्युपपन्नमितरस्मात् । इतरोऽपि हि पिता
✓ शरीरमात्रं जनयति, तथाऽपि स प्रपूज्यतमो लोके, किम् वक्तव्यमात्यन्तिकाभयदातुरि-
✓ त्यभिप्रायः । नमः परमऋषिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो नमः परमऋषिभ्य इति
द्विर्वचनमादरार्थम् ॥८॥ जनकश्चोपनेता च पश्य विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता अन्नप्राप्ता पश्यते पितरः स्मृताः ॥

इति प्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः ॥६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवत्कृतं प्रश्नोपनिषद्भाष्यं समाप्तिमगमत् ॥

मुण्डकोपनिषद्

॥ २ आह्निकम् ॥

उपक्रमः—अथ परा यथा तदक्षरं अधिगम्यते यत्तदद्वैतं १-१-५-६.
प्रसंगः—अथो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद. ३-२-९.

उपासः—अविः सन्निहितं गुह्यान्तरं २-२-१

① तदेतक्षरं ब्रह्म २-२-२.

पूर्वता १—न चक्षुषा नृहृत्ते नापि वाचा. ३-१-४.

वः—अप्यने हृदय मणिः विद्यमाने सर्वे संशयाः २-२-४.

यथा नद्याः स्पन्दयानाः ३-२-४.

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव अवति. ३-२-९.

पैवाद्—यं ये लोकं यनसा संनिश्चानि विबुद्धः सच्चः कामयते पान्था
कामान् तं तं लोकं यनते. ३-१-१०.

यपत्तिः—यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते
स्वरूपाः तथा अक्षरात् विविधाः सोऽयं भावाः प्रजापन्ते २-१-१

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

मुण्डकोपनिषत्.

भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

आत्म कल्याण
कारक

यजनीयाः देवाः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाचं सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । यशस्वी.

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

हे देवताओं! आपकी कृपा से हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्द सुनें। आँखों के द्वारा कल्याण प्रद दृश्य देखें। वैदिक यागादिक कर्म करने में हम समर्थ होवें। दृढ अंगों और शरीरों से स्तुति करते हुए हम लोग केवल देवहित याग के लिये संपूर्ण आयु व्यतीत करें।

महान् यशस्वी इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। परम ज्ञानी पूषादेव हमारा कल्याण करें। संपूर्ण आपत्तियों के नाश करने में चक्र के समान घातक गरुड़ हमारा कल्याण करें। तथा देवताओं के गुरु बृहस्पति हमारा कल्याण करें। आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक त्रिविध तापो की शान्ति होवे। ॐ कर्म रक्तबीजवत् है। सो ज्ञान से ही मूर्ति.

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम् ॥

ॐ ब्रह्मा देवानामित्याद्यथर्वणोपनिषत्। अस्याश्च विद्यासंप्रदायकर्तृपारम्पर्यलक्षण-संबन्धमादावेवाऽऽह स्वयमेव स्तुत्यर्थम्। एवं हि महद्भिः परमपुरुषार्थसाधनत्वेन गुरुणाऽऽयासेन लब्धा विद्येति श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय विद्यां महीकरोति। स्तुत्या प्ररोचितायां हि विद्यायां सादराः प्रवर्तन्ति। प्रयोजनेन तु विद्यायाः साध्यसाधनलक्षणसंबन्धमुत्तरत्र वक्ष्यति— "भिद्यते हृदयप्रस्थिः" (मु० २/२/८) इत्यादिना। अत्र चापरशब्दवाच्याया-मृगवेदादिलक्षणायां विधिप्रतिषेधमात्रपरायां विद्यायां संसारकारणाविद्यादिदोषनिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा परापरविद्याभेदकरणपूर्वकमविद्यायामन्तरे वर्तमाना इत्यादिना। तथा परप्राप्तिसाधनं सर्वसाधनसाध्यविषयवैराग्यपूर्वकं गुरुप्रसादलभ्यां ब्रह्मविद्यामाह-परीक्ष्यलोकानित्यादिना। प्रयोजनं चासकृद्ब्रवीति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति'

पञ्चार्थ परम्परा वर्णन.

अथ प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

सम्पूर्ण इन्द्रादि देवताओं में (ज्ञान वैराग्यादि के कारण बढ़ा हुआ) ब्रह्मा पहले स्वयं उत्पन्न हुआ । वह विश्व का रचयिता तथा सम्पूर्ण भुवन का पालन करने वाला था । इसने समस्त विद्याओं की अश्रायभूत-ब्रह्मविद्या का उपदेश अथर्वा को किया ॥१॥

ॐ दधराह नोवसेर किंचित् काष्ठादीनामनागापि । आसुप्तेरामृतेः कालं न भेदे दान्त्यिन्तपि ।

वे (मु० ३/२/९) । " परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे " (मु० ३/२/६) इति च । ज्ञानमात्रे यद्यपि
✓ सर्वाश्रमिणामधिकारस्तथाऽपि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति
✓ भैक्ष्यचर्या चरन्तः संन्यासयोगादिति च ब्रुवन्दर्शयति । विद्याकर्मविरोधाच्च । न हि ब्रह्मात्मै-
कत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि संपादयितुं शक्यम् । विद्यायाः कालविशेषाभावादनियतनि-
मित्तत्वात्कालसंकोचानुपपत्तिः । यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृत्वादि लिङ्गं, न
तत्स्थितन्यायं बाधितुमुत्सहते । न हि विधिशतेनापि तमः प्रकाशयोरैकत्वसंभवः शक्यते कर्तुं,
किमुत लिङ्गैः केवलैरिति । एवमुक्तसंबन्धप्रयोजनाया उपनिषदोऽल्पाक्षरं ग्रन्थविवरण-
मारभ्यते । य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरा-
रोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति
विनाशयतीत्युपनिषत् । उपनिषदस्य सदेवमर्थस्मरणात् ।

वेदा-येदा ई ब्रह्मा परिवृढो महान्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिशेत् इति । देवानां द्योतनवता-
मिन्द्रादीनां प्रथमो गुणैः प्रधानः सन्प्रथमोऽग्रे वा संबभूवाभिव्यक्तः सम्यक्स्वातन्त्र्येणे-
त्यभिप्रायः । न तथा यथा धर्माधर्मवशात्संसारिणोऽन्ये जायन्ते । " योऽसावतीन्द्रियोऽग्राहः " (मनु० १/७) इत्यादिस्मृतेः । विश्वस्य सर्वस्य जगतः कर्तोत्पादयिता । भुवनस्योत्पन्नस्य गोप्ता
पालयितेति विशेषणं ब्रह्मणो विद्यास्तुतये । स एवं प्रख्यातमहत्त्वो ब्रह्मा ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः
परमात्मनो विद्यां ब्रह्मविद्याम् ' येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम् ' (मु० १/२/१३) इति
विशेषणात्परमात्मविषया हि सा । ब्रह्मणा वाऽग्रजेनोक्तेति ब्रह्मविद्या । तां सर्वविद्याप्रतिष्ठां
सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्सर्वविद्याश्रयामित्यर्थः । सर्वविद्यावेद्यं वा वस्त्वनयैव विज्ञायते इति ।
" येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमृतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् " (छा० ६/१/३) इति श्रुतेः । सर्वविद्या-
प्रतिष्ठामिति च स्तौति विद्यामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ज्येष्ठश्चासौ पुत्रश्चानेकेषु ब्रह्मणः
सृष्टिप्रकारेष्वन्यतमस्य सृष्टिप्रकारस्य प्रमुखे पूर्वमथर्वा सृष्ट इति ज्येष्ठस्तस्मै ज्येष्ठपुत्राय
प्राहोक्तवान् ॥१॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।

स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥२॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। प्रश्न गम्भीर

कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥३॥

जिस विद्या का उपदेश ब्रह्मा ने अथर्वा को किया था उसी ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राचीन काल में अथर्वा ने अंगी नामक मुनि को किया और अंगी ने भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए सत्यवह नामक मुनि से कहा तथा भरद्वाज पुत्र सत्यवह ने शिष्य एवं पुत्र परंपरा से आई हुई उस विद्या को अंगिरा से कहा॥२॥

शुनक के पुत्र प्रसिद्ध महागृहस्थ शौनक ने भारद्वाज के शिष्य आचार्य अंगिरा के पास

विधि पूर्वक जाकर पूछा भगवन्! किस वस्तु के जान लेने पर यह सब कुछ ज्ञातव्य पदार्थ जान लिया जाता है? अर्थात् जिसे जानने के बाद फिर जानना शेष नहीं रह जाता॥३॥

यामेतामथर्वणे प्रवदेतावदब्रह्मविद्यां ब्रह्मा तामेव ब्रह्मणः प्राप्तामथर्वा पुरा पूर्वमुवाचोक्तवानङ्गिरेऽङ्गिर्नाम्ने ब्रह्मविद्याम्। स चाङ्गिर्भारद्वाजाय भरद्वाजगोत्राय सत्यवहाय सत्यवहनाम्ने प्राह प्रोक्तवान्। भारद्वाजोऽङ्गिरसे स्वशिष्याय पुत्राय वा परावरां परस्मात्परस्मादवरेण प्राप्तेति परावरा परावरसर्वविद्याविषयव्यामेवां तां परावरामङ्गिरसे प्राहेत्यनुषङ्गः॥२॥

शौनकः शुनकस्यापत्यं महाशालो महागृहस्थोऽङ्गिरसं भारद्वाजशिष्यमाचार्यं विधिवद्यथाशास्त्रमित्येतत्। उपसन्न उपगतः सन्यप्रच्छ पृष्ठवान्। शौनकाङ्गिरसोः संबन्धादर्वाग्विधिवद्विशेषणादुपसदनविधेः पूर्वेषामनियम इति गम्यते। मर्यादाकरणार्थं मध्यदीपिकान्यायार्थं वा विशेषणम्। अस्मदादिष्वप्युपसदनविधेरिष्टत्वात्। किमित्याह कस्मिन् भगवो विज्ञाते नु इति वितर्के भगवो हे भगवन्सर्वं यदिदं विज्ञेयं विज्ञातं विशेषेण ज्ञातमवगतं भवतीत्येकस्मिज्ज्ञाते सर्वविद्भवतीति शिष्टप्रवादं श्रुतवाञ्छौनकस्तद्विशेषं विज्ञातुकामः सन्कस्मिन्निति वितर्कयन्पप्रच्छ। अथवा लोकसामान्यदृष्ट्या ज्ञातव्यं पप्रच्छ। सन्ति लोके सुवर्णादिशकलभेदाः सुवर्णत्वाद्येकत्वविज्ञानेन विज्ञायमाना लौकिकैः। तथा किंन्वस्ति सर्वस्य जगद्धेदस्यैकं कारणम्। यदेकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति। नन्वविदिते हि कस्मिन्निति प्रश्नोऽनुपपन्नः। किमस्ति तदिति तदा प्रश्नो युक्तः। सिद्धे

④ लाक कान् वा ८ काञ्च वाक्य परावाच पाद, परामा॥ ५, व्यवस्थापनेन चन्दयान्
 ① शिक्षा, अन्तानः संधि, समास, साम = उपकार गति, वेत्तुम् = अल्प प्राण विशेषः
 मात्रा = ४ ह्रस्व, etc. वर्णः स्वरः उदात्त etc. मिताक्षरहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
 ② विद्वन् के नाम पर विद्वाने नमः ③ प्रोगादि कर्म में अनुष्ठेय पदार्थों का क्रम बतलाने वाले ग्रंथ को कल्प कहते हैं

अंगिरा का उत्तर. तस्मै स होवाच। द्वेविद्ये वेदितव्ये इति ह

स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥
 परा और अपरा विद्या का स्वरूप. पाद निरत अक्षर पाद निरत नहीं. उपहास आन्वि.

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः
 ① शिक्षा ② कल्पो ③ व्याकरणं ④ निरुक्तं ⑤ छन्दो ⑥ ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

③ वैदिक शब्दों की विशेषण देग से व्युत्पत्ति, अथ छत्र पद्यों में बतलाने वाला शास्त्र।
 उस शौनक से अंगिरा ने कहा, कि ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है, जानने योग्य विद्याएँ दो ही हैं। एक परा और दूसरी अपरा। परमात्मा विद्या को परा और धर्माधर्म के साधन, उनके फल सम्बन्धी विद्या को अपरा कहते हैं ॥४॥

उसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये सांग चतुर्वेद अपरा विद्या है और जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा विद्या है ॥५॥

तस्मै शौनकायाङ्गिरा ह किलोवाच। किमित्युच्यते। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति। एवं ह स्म किल यद्ब्रह्मविदो वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिना वदन्ति। के ते इत्याह। परा च परमात्मविद्या। अपरा च धर्माधर्मसाधनतत्फलविषया। ननु कस्मिन्विदिते सर्वविद्ध-

वतीति शौनकेन पृष्ठं तस्मिन्वक्तव्येऽपृष्ठमाहाङ्गिरा द्वे विद्ये इत्यादि। नैष दोषः। क्रमापेक्षत्वात्प्रतिवचनस्य। अपरा हि विद्याऽविद्या सा निराकर्तव्या। तद्विषये हि विदिते न किञ्चित्तत्त्वतो विदितं स्यादिति। निराकृत्य हि पूर्वपक्षं पश्चात्सिद्धान्तो वक्तव्यो भवतीति न्यायात् ॥४॥

तत्र काऽपरेत्युच्यते। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षडेषाऽपरा विद्या। अथेदानीमियं परा विद्योच्यते, यया तद्वक्ष्यमाणविशेषणमक्षरमधिगम्यते प्राप्यते। अधिपूर्वस्य गमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात्। न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य च भेदोऽस्ति। अविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम्। ननु ऋग्वेदादिबाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यान्मोक्षसाधनं च। या

वतीति शौनकेन पृष्ठं तस्मिन्वक्तव्येऽपृष्ठमाहाङ्गिरा द्वे विद्ये इत्यादि। नैष दोषः। क्रमापेक्षत्वात्प्रतिवचनस्य। अपरा हि विद्याऽविद्या सा निराकर्तव्या। तद्विषये हि विदिते न किञ्चित्तत्त्वतो विदितं स्यादिति। निराकृत्य हि पूर्वपक्षं पश्चात्सिद्धान्तो वक्तव्यो भवतीति न्यायात् ॥४॥

तत्र काऽपरेत्युच्यते। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षडेषाऽपरा विद्या। अथेदानीमियं परा विद्योच्यते, यया तद्वक्ष्यमाणविशेषणमक्षरमधिगम्यते प्राप्यते। अधिपूर्वस्य गमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात्। न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य च भेदोऽस्ति। अविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम्। ननु ऋग्वेदादिबाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यान्मोक्षसाधनं च। या

परविद्या का निरूपण

उपक्रमः
कोशापचय
गुणकारका
व्ययः नास्ति

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

वह जो अदृश्य (इन्द्रियों का अविषय) अग्राह्य (कर्मेन्द्रियों का अविषय) अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि से रहित है, ऐसे ही पाणिपाद से रहित, नित्य, विभु, सर्वव्यापक अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी पुरुष सभी ओर देखते हैं ॥६॥

वेदबाह्याः स्मृतय इति हि स्मरन्ति । कुदृष्टित्वानिष्फलत्वादनादेया स्यात् । उपनिषदां च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं स्यात् । ऋग्वेदादित्वे तु पृथक्करणमनर्थकम् । अथ परेति । न । वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात् । उपनिषद्देद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः । वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः । शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वधिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः संभवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा विद्येति कथनं चेति ॥५॥

यथा विधिविषये कर्त्राद्यनेककारकोपसंहारद्वारेण वाक्यार्थज्ञानकालादन्यत्रानुष्ठे-
योऽर्थोऽस्त्यग्निहोत्रादिलक्षणो, न तथेह परविद्याविषये । वाक्यार्थज्ञानसमकाल एव तु पर्यवसितो भवति । केवलशब्दप्रकाशितार्थज्ञानमात्रनिष्ठाव्यतिरिक्ताभावात् ॥ तस्मादिह परा विद्यां सविशेषणेनाक्षरेण विशिनष्टियत्तदद्रेश्यमित्यादिना । वक्ष्यमाणं बुद्धौ संहृत्य सिद्धवत्परामृश्यते-यत्तदिति । अद्रेश्यमदृश्यं सर्वेषां बुद्धीन्द्रियाणामगम्यमित्येतत् । दृशेर्बहिष्प्रवृत्तस्य पञ्चेन्द्रियद्वारकत्वात् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयमित्येतत् । अगोत्रं गोत्रमन्वयो मूलमित्यनर्थान्तरम् । अगोत्रमनन्वयमित्यर्थः । न हि तस्य मूलमस्ति येनान्वितं स्यात् । वर्ण्यन्त इति वर्णां द्रव्यधर्माः स्थूलत्वादयोः शुक्लत्वादयो वा । अविद्यमाना वर्णा यस्य तदवर्णमक्षरम् । अचक्षुःश्रोत्रं चक्षुश्च श्रोत्रं च नामरूपविषये करणे सर्वजन्तूनां ते अविद्यमाने यस्य तदचक्षुःश्रोत्रम् । यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिचेतनावत्त्वविशेषणत्वात्प्राप्तं संसारिणामिव चक्षुःश्रोत्रादिभिः करणैरर्थसाधकत्वं तदिहाचक्षुःश्रोत्रमिति वार्यते । "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० ३/१९) इत्यादिदर्शनात् । किंच तदपाणिपादं कर्मेन्द्रियरहितमित्येतत् । यत एवमग्राह्यमग्राहकं चातो नित्यमविनाशि । विभुं विविधं ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवतीति विभुम् । सर्वगतं व्यापकमाकाशवत्सुसूक्ष्मं शब्दादिस्थूलत्वकारणरहितत्वात् । शब्दादयो ह्याकाशवाय्वादीनामुत्तरोत्तरं स्थूलत्वकारणानि तदभावात्सुसूक्ष्मम् । किंच तदव्ययमुक्तधर्मत्वादेव न व्येतीत्यव्ययम् । न ह्यनङ्गस्य स्वाङ्गापचयलक्षणो व्ययः संभवति

अक्षर ब्रह्म विष्णु का कारण।

यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥७॥

सुखानला.

निमित्तान्तरानेव द्वाद्

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते । अव्यक्त

(पुत्र की उत्पत्ति की इच्छा वाले पिता के समान ज्ञान रूप) तप द्वारा वह अक्षर ब्रह्म कुछ स्थूल भाव को प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् उसी ब्रह्म से (सभी प्राणियों के लिये साधारण

शरीरस्येव। नापि कोशापचयलक्षणो व्ययः संभवति राज्ञ इव। नापि गुणद्वारको व्ययः संभवत्यगुणत्वात्सर्वात्मकत्वाच्च। यदेवलक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं पृथिवीव स्थावर-

✓ जङ्गमानां परिपश्यन्ति सर्वत आत्मभूतं सर्वस्याक्षरं पश्यन्ति धीरा धीमन्तो विवेकिनः।

✓ ईदृशमक्षरं यया विद्ययाऽधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः ॥६॥

भूतयोन्यक्षरमित्युक्तं तत्कथं भूतयोनित्वमित्युच्यते प्रसिद्धदृष्टान्तैः। यथा लोके प्रसिद्धम्। ऊर्णनाभिर्लूताकीटः किञ्चित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यतिरिक्तानेव तन्तून्बहिः प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च गृह्णाति स्वात्मभावमेवाऽऽपादयति। यथा च पृथिव्यामोषधयो व्रीह्यादिस्थावरान्ता इत्यर्थः। स्वात्माव्यतिरिक्ता एव प्रभवन्ति। यथा च सतो विद्यमानाज्जीवतः पुरुषात्केशलोमानि केशाश्च लोमानि च संभवन्ति विलक्षणानि। यथैते दृष्टान्तास्तथा विलक्षणं सलक्षणं च निमित्तान्तरानपेक्षाद्युक्त-लक्षणादक्षरात्संभवति समुत्पद्यते इह संसारमण्डले विश्वं समस्तं जगत्। अनेकदृष्टान्तोपादानं तु सुखार्थप्रबोधनार्थम् ॥७॥

यद्ब्रह्मण उत्पद्यमानं विश्वं, तदनेन, क्रमेणोत्पद्यते, न युगपद्बदरमुष्टिप्रक्षेपवदिति
क्रमनियमविवक्षार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते। तपसा ज्ञानेनोत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म

चीयत उपचीयत उत्तिपादयिषदिदं जगदङ्कुरमिव बीजमुच्छ्रून्ता गच्छति पुत्रमिव स्थूला
पिता हर्षेण । एवं सर्वज्ञतया सृष्टिस्थितिसंहारशक्तिविज्ञानवत्तयोपचितात्ततो ब्रह्मणोऽन्मद्यते
भुज्यत इत्यन्मव्याकृतं साधारणं संसारिणां व्याचिकीर्षितावस्थारूपेणाभिजायत उत्पद्यते ।

ततश्चाव्याकृतादव्याचिकीर्षितावस्थावतोऽन्नातप्राणो हिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रिया-

प्रेम अङ्कुर उत्पत्ति के पहले फूल जाता है, ^(शब्दों में प्रतीक) ^{*} उच्छ्वसता — टाओ चि संप्रसारण "इन्द्रिय" "अविरोध" ^X
 इत पूर्वस्थ टाओ चि "आदि तत्त्व" (५-४६)
 → ध्याता • क्र. पञ्चादिनाम संप्रमाण प्रतीक "१" "२" "३" "४" "५"

अव्याकृत

मुण्डकोपनिषत् मुण्डक १ खण्ड १

पञ्चभूत

भूरादि

हि. ज. सूत्रात्मा

अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥ कर्मफलं

सामान्य

विशेष

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥९॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषदि प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

कारण रूप अव्याकृत) अन्न उत्पन्न होता है। फिर अन्न से हिरण्यगर्भ रूप प्राण, संकल्पादि चतुष्टय व्यापार रूप मन, मन से भूतपंचक, उससे भूरादि लोक, उनमें मनुष्यादि के अनुरूप कर्म और कर्म से अमृत नामक कर्मजन्य फल उत्पन्न होता है ॥८॥

सबको सामान्य रूप से जो जानता है इसलिये सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने के कारण सर्ववित् कहा जाता है और जिसका ज्ञानमय तप है उस अक्षर ब्रह्म से ही हिरण्यगर्भ रूप देव-सत्तादिनाम् शुक्लादि रूप और व्रीहि यवादि अन्न उत्पन्न होता है ॥९॥

॥ इति प्रथममुण्डके प्रथमखण्डः ॥

शक्त्यधिष्ठितजगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमुदायबीजाङ्कुरो जगदात्माऽभिजायत इत्यनुषङ्गः । तस्माच्च प्राणान्मनो मन आख्यं संकल्पविकल्पसंशयनिर्णयाद्यात्मकमभिजायते । ततोऽपि संकल्पाद्यात्मकान्मनसः सत्यं सत्याख्यमाकाशादिभूतपञ्चकमभिजायते । तस्मात्सत्याख्याद्भूतपञ्चकादण्डक्रमेण सप्त लोका भूरादयः । तेषु मनुष्यादिप्राणिवर्णा-
श्रमक्रमेण कर्माणि । कर्मसु च निमित्तभूतेष्वमृतं कर्मजं फलम् । यावत्कर्माणि
कल्पकोटिशतैरपि न विनश्यन्ति तावत्फलं न विनश्यतीत्यमृतम् ॥८॥

उक्तमेवार्थमुपसंजिहीर्षुर्मन्त्रो वक्ष्यमाणार्थमाह-य उक्तलक्षणोऽक्षराख्यः सर्वज्ञः सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञः । विशेषेण सर्ववेत्तीति सर्ववित् । यस्य ज्ञानमयं ज्ञान-
विकारमेव सार्वज्ञ्यलक्षणं तपो नाऽऽयासलक्षणं तस्माद्यथोक्तात्सर्वज्ञादेतदुक्तं कार्यलक्षणं
ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं जायते । किंच नामासौ देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादिलक्षणम् । रूपमिदं शुक्लं नीलमित्यादि । अन्नं च व्रीहियवादिलक्षणं जायते । पूर्वमन्त्रोक्तक्रमेणेत्यविरोधो द्रष्टव्यः ॥९॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

"यावद् जीवं अग्निहोत्रं जुहुयात्" / "यावद् जीवं अग्निं वेन्द्याः वेदान्तं कुरीयात्"

कर्म निरूपण।

अथ प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः

मेधावी वशिष्ठः तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि
त्रेतायां बहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं
सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥

अग्निहोत्रक निरूपण।

यदा लेलायते ह्यग्निः समिद्धे हव्यवाहने।
हरि तुम् बहुत अनुग्रह कीन्हे कोई है तुम् न कोई नामः अजबने अन को बिछोये अलग करे।

मेधावी (वशिष्ठादि) ऋषियों ने जिन अग्निहोत्रादि कर्मों को ऋग्वेदादि मंत्रों में देखा
था वही यह सत्य है। उन्हीं कर्मों का होत्र, आध्वर्यहोत्र और औदगात्ररूप त्रेता में अनेक प्रकार
से विस्तार हुआ। यथार्थ कर्म फल की कामना से युक्त होकर उनका आचरण करो। लोक में
तुम्हारे लिये विहित अग्निहोत्रादि कर्मों के फल प्राप्ति का यही मार्ग है ॥१॥

जिस समय ईंधन द्वारा सम्यक् प्रकार से अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर उसकी ज्वाला

अनेक जीववादिब स्थापनापरिचय उक्तम्

साङ्गा वेदा अपरा विद्योक्ता-ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादिना। यत्तद्वेश्यमित्यादिना
नामरूपमन्नं च जायत इत्यन्तेन ग्रन्थेनोक्तलक्षणमक्षरं यथा विद्ययाऽधिगम्यत इति परा
विद्या सविशेषोक्ता। अतः परमनयोर्विद्ययोर्विषयौ विवेक्तव्यौ संसारमोक्षावित्युत्तरो ग्रन्थ
आरभ्यते। तत्रापरविद्याविषयः कर्त्रादिसाधनक्रियाफलभेदरूपः संसारोऽनादिरनन्तो

दुःखस्वरूपत्वाद्वातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः सामस्त्येन नदीस्रोतोवदव्यवच्छेदरूपसंबन्ध-
स्तदुपशमलक्षणो मोक्षः परविद्याविषयोऽनाद्यनन्तोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः शुद्धः प्रसन्नः
स्वात्मप्रतिष्ठाक्षणाः परमानन्दोऽद्वय इति। पूर्वं तावदपरविद्याया विषयप्रदर्शनार्थमारम्भः।

तद्दर्शने हि तन्निर्वेदोपपत्तेः। तथाच वक्ष्यति— "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्" (मु० १/२/ वैराग्यः

✓ १२) इत्यादिना। न ह्यप्रदर्शिते परीक्षोपपद्यत इति तत्प्रदर्शयन्नाह तदेतत्सत्यमवितथम्। किं
तन्मन्त्रेष्वृग्वेदाद्याख्येषु कर्माण्यग्निहोत्रादीनि मन्त्रैरेव प्रकाशितानि कवयो मेधाविनो
वसिष्ठादयो यान्यपश्यन्दृष्टवन्तः। यत्तदेतत्सत्यमेकान्तपुरुषार्थसाधनत्वात्तानि च वेदविहितानि

✓ नृषिदृष्टानि कर्माणि त्रेतायां त्रयीसंयोगलक्षणायां होत्राध्वर्यवौदगात्रप्रकारायामधिकरण-
भूतायां बहुधा बहुप्रकारं संततानि प्रवृत्तानि कर्मिभिः क्रियमाणानि त्रेतायां वा युगे प्रायशः
प्रवृत्तान्यतो यूयं तान्याचरथ निर्वर्तयथ नियतं नित्यं, सत्यकामा यथाभूतकर्मफलकामाः सन्तः।
एष वो युष्माकं पन्था मार्गः सुकृतस्य स्वयं निर्वर्तितस्य कर्मणो लोके फलनिमित्तं लोच्यते
दृश्यते भुज्यते इति कर्मफलं लोक उच्यते। तदर्थं तत्प्राप्तये एष मार्ग इत्यर्थः। यान्येतान्यग्निहोत्रा-
दीनि त्रय्यां विहितानि कर्माणि, तान्येष पन्था अवश्यफलप्राप्तिसाधनमित्यर्थः ॥१॥

तत्राग्निहोत्रमेव तावत्प्रथमं प्रदर्शनार्थमुच्यते, सर्वकर्मणां प्राथम्यात्। तत्कथम्।

* साक्षात्परंपरया वा क्रियाश्रयः; कर्तुं कर्मद्वारक फलव्यापाराधारः यथा

(+) अर्थ क्रिया कारिण रूप सत्यमस्ति, स्वप्न कर्मिणीमिव स्थान्यमोदनं गृहे पचतीति।

तदाऽऽज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ २ ॥

विधि रहित कर्म का परिणाम

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्र-

नवीन अन्नसे. यणमतिथिवर्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमवि-

धिना हुतमाससमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३ ॥

PT-0.

उठने लगे, उस समय (अग्नये स्वाहा तथा सोमाय स्वाहा, इन मन्त्रों से) दिये गये आज्य भागों के मध्य में आहुतियाँ डाले ॥ २ ॥

जिस अग्निहोतृ का अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य और (शरदादि ऋतुओं में नवीन अन्न से किये जाने वाले) आग्रयण, इन कर्मों से रहित नित्य अतिथि पूजन से वर्जित, यथासमय किये जाने वाले अग्नि होत्रादि और बलिवैश्वदेव से रहित अथवा अविधिपूर्वक हवन किया जाता है, वह कर्म (केवल परिश्रममात्र फलवाला होने के कारण) उस कर्ता की सात पीढ़ियों या सात लोकों का नाश कर देता है ॥ ३ ॥

यदैवेन्धनैरभ्याहितैः सम्यगिद्धे समिद्धे हव्यव्राह्णे लेलायते चलत्यर्चिस्तदा तस्मिन्काले लेलायमाने चलत्यर्चिष्याज्यभागावाज्यभागयोरन्तरेण मध्ये आवापस्थाने आहुतीः प्रतिपादयेत्प्रक्षिपेद्देवतामुद्दिश्य। अनेकाहप्रयोगापेक्षयाऽऽहुतीरीति बहुवचनम्। एष सम्यगाहुतिप्रक्षेपादिलक्षणः कर्ममार्गो लोकप्राप्तये पन्थास्तस्य च सम्यक्करणं दुष्करम्। विपत्तयस्त्वनेका भवन्ति ॥ २ ॥

कथंयस्याग्निहोत्रिणोऽग्निहोत्रमदर्शं दर्शाख्येन कर्मणा वर्जितम्। अग्निहोत्रिणोऽवश्यकर्तव्यत्वाददर्शस्य। अग्निहोत्रसंबन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिव भवति तदक्रियमाणमित्येतत्। तथाऽपौर्णमासमित्यादिष्वप्यग्निहोत्रविशेषणत्वं द्रष्टव्यम्। अग्निहोत्राङ्गत्वस्याविशिष्टत्वादपौर्णमासं पौर्णमासकर्मवर्जितम्। अचातुर्मास्यं चातुर्मास्यकर्मवर्जितम्। अनाग्रयणमाग्रयणं शरदादिकर्तव्यं तच्च न क्रियते यस्य। तथाऽतिथिवर्जितं चातिथिपूजनं चाहन्यहन्य-
क्रियमाणं यस्य स्वयं सम्यगग्निहोत्रकालेऽहुतम्। अदर्शादिवदवैश्वदेवं वैश्वदेवकर्मवर्जितं हूयमानमप्यविधिना हुतं न यथाहुतमित्येतत्। एवं दुःसंपादितमसंपादितमग्निहोत्राद्युपलक्षितं कर्म किं करोतीत्युच्यत आसप्तमान्सप्तमसहितांस्तस्य कर्तुर्लोकान्हिनस्ति हिनस्तीवाऽऽया-
समात्रफलत्वात्। सम्यक्क्रियमाणेषु हि कर्मसु कर्मपरिणामानुरूपेण भूरादयः सत्यान्ताः सप्त लोकाः फलं प्राप्यन्ते। ते लोका एवंभूतेनाग्निहोत्रादिकर्मणा त्वप्राप्यत्वाद्धिंस्यन्त

① 7 दिन का सप्ताह: ⑦ शुभेच्छा, विचारणा, वज्रमानसा, सच्चापति,
 ② सप्त प्राणाः प्रभवन्ति. असंस्कृति, यदार्थाभाविनी, तुर्धगा. Refer in the beginning
 ③ 7 लोक. भू: ८८.
 ④ क्षार आदि 7 समुद्र. मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता
 ⑤ अवलादि 7 नीचे के लोक. अग्नि की सात जिह्वा
 ⑥ 7 द्वीप जम्बुद्वीप. काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या
 ⑦ ज्ञान भूमिका च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च
 ⑧ शुभेच्छा ८८. देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥४॥
 ⑨ अज्ञानादि 7 विद्वत्स की अवस्थाये. विद्वत् अग्निहोत्रादि का काल.
 ⑩ कश्चिदादि भेदेषु एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाऽऽहु- द्वीपमानेषु
 ⑪ रश्मि कैश्च 7 भेदेषु तयो ह्याददायन्। तं नयन्त्येताः सूर्यस्त्रय
 ⑫ रूप भूमी का. रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥
 ⑬ तन्त्र में शक्ति का 7 भेद इन्द्र
 ⑭ आज्ञा व सप्ताह काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्व रुचिदेवी, ये उस
 अग्नि की (आहुतियों के ग्रसने के लिए) लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं ॥४॥
 जो अग्निहोत्री पुरुष इन दीप्तिमान् अग्नि शिखाओं में यथासमय आहुतियाँ डालता
 हुआ अग्निहोत्रादि कर्म का आचरण करता है उस यजमान को ये (इसकी दी हुई
 आहुतियाँ) सूर्य की किरणों में होकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताओं का एकमात्र स्वामी इन्द्र
 रहता है ॥५॥ अज्ञानमावृत्तिस्तद्वद्विरोधपरोक्षधीः, Refer in the beginning.
 * अपरोक्षमग्निः शोकमोक्षं वृत्तिनिर्देशकः, III - 33. पञ्चदशी
 इवाऽऽयासमात्रं त्वव्यभिचारीत्यतो हिनस्तीत्युच्यते। पिण्डदानाद्यनुग्रहेण वा संबध्यमानाः
 पितृपितामहप्रपितामहाः, पुत्रपौत्रप्रपौत्राः स्वात्मोपकाराः सप्त लोका उक्तप्रकारेणाग्नि-
 होत्रादिना न भवन्तीति हिंस्यन्त इत्युच्यते ॥३॥
 काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी
 विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः। काल्याद्या विश्वरुच्यन्ता लेलायमाना
 अग्नेर्हविराहुतिग्रसनार्था एताः सप्त जिह्वाः ॥४॥
 एतेष्वग्निजिह्वाभेदेषु योऽग्निहोत्री चरते कर्माऽऽचरत्यग्निहोत्रादि भ्राजमानेषु
 दीप्यमानेषु यथाकालं च यस्य कर्मणो यः कालस्तत्कालं यथाकालं यजमानमाददा-
 यन्नाददाना आहुतयो यजमानेन निर्वर्तितास्तं नयन्ति प्रापयन्त्येता आहुतयो या इमा अनेन
 निर्वर्तिताः सूर्यस्य रश्मयो भूत्वा रश्मिद्वारैरित्यर्थः। यत्र यस्मिन्स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्र एकः
 सर्वानुपर्यधिवासतीत्यधिवासः ॥५॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मि-
भिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽ

र्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥ स्वर्गः प्रकरणात्

केवल कर्म की निन्दा

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं

येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा

जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥

वे दीप्तमती आहुतियाँ 'आओ-आओ, यह तुम्हारे सुकृत से प्राप्त हुआ पवित्र ब्रह्मलोक है।' इस प्रकार प्रिय वाणी से उसकी स्तुति करते हुए यजमान का अर्चन करती हुई उसे सूर्य की रश्मियों द्वारा स्वर्ग ले जाती हैं ॥६॥

ज्ञान रहित होने के कारण जिनमें निकृष्ट कर्म माना गया वे (सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमानी ऐसे) अठारह यज्ञ के साधन, अस्थिर एवं नश्वर बतलाये हैं। जो मूढ़ यही मोक्ष का साधन है। ऐसा समझकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वे पुनः-पुनः जरामृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं ॥७॥

यजमान

कथं सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्तीत्युच्यते एह्येहीत्याह्वयन्त्यः। सुवर्चसो दीप्तिमत्यः। किंच प्रियामिष्टां वाचं स्तुत्यादिलक्षणामभिवदन्त्य उच्चारयन्त्योऽर्चयन्त्यः पूजयन्त्यश्चैष वो युष्माकं पुण्यः सुकृतो यथा ब्रह्मलोकः फलरूपः। एवं प्रियां वाचमभिवदन्त्यो वहन्तीत्यर्थः। ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात् ॥६॥

एतच्च ज्ञानरहितं कर्मैतावत्फलमविद्याकामकार्यमतोऽसारं दुःखमूलमिति निन्द्यते। प्लवा विनाशिन इत्यर्थः। हि यस्मादेतेऽदृढा अस्थिरा यज्ञरूपा यज्ञस्य रूपाणि यज्ञरूपा यज्ञनिर्वर्तका अष्टादशाष्टादशसंख्याकाः षोडशः ऋत्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश। एतदाश्रयं कर्मोक्तं कथितं शास्त्रेण। येष्वष्टादशस्वरं केवलं ज्ञानवर्जितं कर्म। अतस्तेषामवर-कर्माश्रयाणामष्टादशानामदृढा यज्ञा प्लवत्वात्प्लवते सह फलेन तत्साध्यं कर्म। कुण्ड-विनाशादिवक्षीरदध्यादीनां तत्स्थानां नाशः। यत एवमेतत्कर्म श्रेयः श्रेयःकरणमिति येऽभिनन्दन्त्यभिहृष्यन्त्यविवेकिनो मूढा अतस्ते जरां च मृत्युं च जरामृत्युं किञ्चित्कालं स्वर्गे स्थित्वा पुनरेवापि यन्ति भूयोऽपि गच्छन्ति ॥७॥

अज्ञानि की दुःस्था

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।

जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥८॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।

यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।

अविद्या के मध्य में रहने वाले (बहुधा अविवेकी) अपने आप को सम्मानित और पण्डित मानने वाले वे मूढ पुरुष अन्धे से ले जाए गये अन्धे के समान (जरा रोगादि अनेक अनर्थ जाल से) पीड़ित होते और भटकते रहते हैं ॥८॥

अनेक प्रकार से अविद्या में ही रहने वाले वे अज्ञानी पुरुष 'हम सब कृत-कृत्य हो चुके हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं क्योंकि कर्मी लोग कर्मफल सम्बन्धी-राग से बुद्धि के प्रतिहत हो जाने के कारण तत्त्व को नहीं जान पाते हैं। इसीलिये वे दुःखार्त होकर कर्मफल के नष्ट हो जाने पर स्वर्ग से गिर जाते हैं ॥९॥

इष्ट (यागादि श्रौत कर्म) और पूर्त (वापी, कूप, तडागादि स्मार्त कर्म) को ही पुरुषार्थ के सर्वोत्तम साधन मानने वाले वे (पुत्र, पौत्रादि में मोहित हुए) महामूढ़ पुरुष किसी अन्य वस्तु

किंचाविद्यायामन्तरे मध्ये वर्तमाना अविवेकप्रायाः स्वयं वयमेव धीरा धीमन्तः पण्डिता विदितवेदितव्याश्चेति मन्यमाना आत्मानं संभावयन्तस्ते च जङ्घन्यमाना जरारोगाद्यनेकानर्थव्रातैर्हन्यमाना भृशं पीड्यमानाः परियन्ति विभ्रमन्ति मूढाः । दर्शन-वर्जितत्वादन्धेनैवाचक्षुष्केणैव नीयमानाः प्रदर्श्यमानमार्गा यथा लोकेऽन्धा अक्षिरहिता गतकण्टकादौ पतन्ति तद्वत् ॥८॥

किंचाविद्यायां बहुधा बहुप्रकारं वर्तमाना वयमेव कृतार्थाः कृतप्रयोजना इत्येवमभिमन्यन्त्यभिमानं कुर्वन्ति बाला अज्ञानिनः यद्यस्मादेवं कर्मिणो न प्रवेदयन्ति तत्त्वं न जानन्ति रागात्कर्मफलरागाभिभवनिमित्तं तेन कारणेनाऽऽतुरा दुःखार्ताः सन्तः क्षीणलोकाः क्षीणकर्मफलाः स्वर्गलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

इष्टापूर्तम् । इष्टं यागादि श्रौतं कर्म । पूर्तं वापीकूपतडागादि स्मार्तं मन्यमाना एतदेवातिशयेन पुरुषार्थसाधनं वरिष्ठं प्रधानमिति चिन्तयन्तोऽन्यदात्मज्ञानाख्यं श्रेयसाधनं न

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

"क्षीणे पुण्ये मर्त्ये - - -"

तपःश्रद्धे ये ह्यपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्या चरन्तः । गृहस्थाश्च ज्ञानप्रधानाः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

* क्षीण पुण्यपापकर्माणः ।

* यावत् संसारस्थायी ।

को श्रेय का साधन नहीं समझते हैं। अतः वे स्वर्ग के उच्चतम स्थान में अपने कर्म फलों का अनुभव कर (अवशिष्ट कर्मानुसार) इस मनुष्य लोक या इससे निकृष्ट (तिर्यगादि) लोक में प्रवेश करते हैं ॥१०॥

(किन्तु इसके विपरीत) जो शान्त और सम्पन्न वानप्रस्थ तथा संन्यासी लोग वन में रहकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए स्वधर्माचरणरूप तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे पुण्य पाप से विमुक्त होकर उत्तरायण मार्ग से वहाँ जाते हैं। जिस सत्य लोकादि में वह अमृत और अव्यय स्वरूप हिरण्यगर्भादि पुरुष रहता है ॥११॥

वेदयन्ते न जानन्ति प्रमूढाः पुत्रपशुबन्धवादिषु प्रमत्ततया मूढास्ते च नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठ उपरिस्थाने सुकृते भोगायतनेऽनुभूत्वाऽनुभूय कर्मफलं पुनरिमं लोकं मानुषमस्माद्धीनतरं वा तिर्यङ्नरकादिलक्षणं यथाकर्मशेषं विशन्ति ॥१०॥

ये पुनस्तद्विपरीता ज्ञानयुक्ता वानप्रस्थाः संन्यासिनश्च तपःश्रद्धे हि तपः स्वाश्रम-
विहितं कर्म । श्रद्धा हिरण्यगर्भादिविषया विद्या ते तपःश्रद्धे उपवसन्ति सेवन्तेऽरण्ये^(१)
वर्तमानाः सन्तः । शान्ता उपरतकरणग्रामाः । विद्वांसो गृहस्थाश्च ज्ञानप्रधाना इत्यर्थः । असूद्ध
भैक्ष्यचर्या चरन्तः परिग्रहाभावादुपवसन्त्यरण्ये इति संबन्धः । सूर्यद्वारेण सूर्योपलक्षिते-
नोत्तरायणेन पथा ते विरजा विरजसः क्षीणपुण्यपापकर्माणः सन्त इत्यर्थः । प्रयान्ति
प्रकर्षेण यान्ति यत्र यस्मिन्सत्यलोकादावमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो ह्यव्य-
यात्माऽव्ययस्वभावो यावत्संसारस्थायी । एतदन्तास्तु संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः ।
ननु—एतं मोक्षमिच्छन्ति केचिन्नेहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामास्ते स्वर्गं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्तीत्यादिश्रुतिभ्योऽप्रकरणाच्च । अपरविद्याप्रकरणे हि प्रवृत्ते
न ह्यकस्मान्मोक्षप्रसङ्गोऽस्ति विरजस्त्वं त्वापेक्षिकं समस्तमपरविद्याकार्यं साध्यसाधन-
लक्षणं क्रियाकारकफलभेदभिन्नं द्वैतम् । एतावदेव यद्विरण्यगर्भप्राप्त्यवसानम् । तथा च
मनुनोक्तं स्थावराद्यां संसारगतिमनुक्रामता—

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।

उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" (मनु० १२/५०) इति ॥११॥

(१) स्त्रीजनासकीर्ण देशे :- वनमपि हि स्त्रीजनसंकुलं चेन्न तयोऽनुकूलमतो
व्याचक्षे स्त्रीजनाकीर्ण इति ।

98
परवैराज्य से युक्त के लिये स-पास और शुरू उपसदन का विधान।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥
अध्यापन श्रुतार्थं संयन्तं.

अथेदानीमस्मात्साध्यसाधनरूपात्सर्वस्मात्संसारद्विरक्तस्य परस्यां विद्यायामधिकार-
प्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—परीक्ष्य यदेतदृग्वेदाद्यपरविद्याविषयं स्वाभाविक्यविद्याकामक-
र्मदोषवत्पुरुषानुष्ठेयमविद्यादिदोषवन्तमेव पुरुषं प्रति विहितत्वात्तदनुष्ठानकार्यभूताश्च
लोका ये दक्षिणोत्तरमार्गलक्षणाः फलभूता ये च विहिताकरणप्रतिषेधातिक्रमदोषसाध्या
नरकतिर्यक्प्रेतलक्षणास्तानेतान्परीक्ष्य प्रत्यक्षानुमानागमैः सर्वतो याथात्म्येनावधार्य
लोकान्संसारगतिभूतानव्यक्तादिस्थावरान्तान्व्याकृताव्याकृतलक्षणान्वीजाङ्कुरव-
दितरेतरोत्पत्तिनिमित्ताननेकानर्थशतसहस्रसंकुलान्कदलीगर्भवदसारान्मायामरीच्यु-
दकगन्धर्वनगराकारस्वप्नजलबुद्बुदफेनसमान्प्रतिक्षणप्रध्वंसान्पृष्ठतः कृत्वाऽविद्याकाम-
दोषप्रवर्तितकर्मचितान्धर्माधर्मनिर्वर्तितानित्येतद्ब्राह्मणस्यैव विशेषतोऽधिकारः सर्वत्यागेन
ब्रह्मविद्यायामिति ब्राह्मणग्रहणम् । परीक्ष्य लोकान्किं कुर्यादित्युच्यते—निर्वेदं निःपूर्वो
विदिरत्र वैराग्यार्थं, वैराग्यमायात्कुर्यादित्येतत् । स वैराग्यप्रकारः प्रदर्श्यते । इह संसारे नास्ति
कश्चिदप्यकृतः पदार्थः । सर्वे एव हि लोकाः कर्मचिताः कर्मकृतत्वाच्चानित्याः । न नित्यं
किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः । सर्वं तु कर्मानित्यस्यैव साधनम् । यस्माच्चतुर्विधमेव हि सर्वं
कर्म कार्यमुत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं वा नातः परं कर्मणो विशेषोऽस्ति, अहं च
नित्येनामृतेनाभयेन कूटस्थेनाचलेन ध्रुवेणार्थनार्थी, न तद्विपरीतेन । अतः किं कृतेन
कर्मणाऽऽयासबहुलेनानर्थसाधनेनेत्येवं निर्विण्णोऽभयं शिवमकृतं नित्यं पदं यत्तद्विज्ञानार्थं
विशेषेणाधिगमार्थं स निर्विण्णो ब्राह्मणो गुरुमेवाऽऽचार्यं शमदमदयादिसंपन्नमभिगच्छेत् ।
शास्त्रज्ञोऽपि स्वतन्त्रेण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद्गुरुमेवेत्यवधारणफलम् समित्पाणिः
समिद्भारगृहीतहस्तः ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद्गुरुमेवेत्यवधारणफलम् । समित्पाणिः

समिद्धारगृहीतहस्तः श्रोत्रियमध्ययनश्रुतार्थसंपन्नं ब्रह्मनिष्ठं हित्वा सर्वकर्माणि
श्रोत्रियं कन्दोऽधीते (७१-२२) (५-२-८५)

उपदेश की विधि

तस्मै विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥
इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥ इति प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥१॥

वह ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने समीप आए हुए उस सम्यक् प्रकार से प्रशान्त चित्त और जितेन्द्रिय शिष्य को उस परविद्या का पूर्ण रूप से उपदेश करे। जिससे कि उस सत्य और अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है, (न्यायानुसार उक्त रीति से उपदेश कर सच्छिष्य को अविद्या समुद्र से तार देना आचार्य का कर्तव्य होता है) ॥१३॥

केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सोऽयं ब्रह्मनिष्ठो जपनिष्ठस्तपोनिष्ठ इति यद्वत् । न हि कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठता संभवति कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात् । स तं गुरुं विधिवदुपसन्नः प्रसाद्य पृच्छेदक्षरं पुरुषं सत्यम् ॥१२॥

तस्मै सविद्वानुरुर्ब्रह्मविदुपसन्नायोपगताय । सम्यग्यथाशास्त्रमित्येतत् । प्रशान्तचित्ता-
योपरतदर्पादिदोषाय । शमान्विताय बाह्येन्द्रियोपरमेण च युक्ताय सर्वतो विरक्तायेत्येतत् । येन विज्ञानेन यया विद्यया परयाऽक्षरमद्रेष्यादिविशेषणं तदेवाक्षरं पुरुषशब्दवाच्यं पूर्णत्वात्पुरि-
शयनाच्च सत्यं, तदेव परमार्थस्वाभाव्यादक्षरं चाक्षरणादक्षतत्वादक्षयत्वाच्च वेद विजानाति तां ब्रह्मविद्यां तत्त्वतो यथावत्प्रोवाच प्रब्रूयादित्यर्थः । आचार्यस्याप्ययं नियमो यन्न्याय-
प्राप्तसच्छिष्यनिस्तारणमविद्यामहोदधेः ॥१३॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥१॥

(*) "पूरण पूड़ी" मैं सब जानती हूँ, माई का कहना। कथा.।.

अद्विवेकी = अन्ध सुदर्शन वेद पुराणा दर्शक कहो महारस जाना: विवेक आवश्यकता
 वरानन्दनभारवाही भारस्म वेत्ता ननु चन्दनस्य. 84 lacks of living beings can be
 अग्नि विस्फुलिङ्ग इक्षान्त द्वारा ब्रह्म से जगत उत्पत्ति का वर्णन। seen by only
 Rishis but not
 by Scientist.

अथ द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः

प्रभवन्ते सरूपाः।

उत्पत्ति (6) ज्ञात. बड़ों का प्रयोग; प्यार भरा शब्द चोहों को.

तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

रमात्मा अमूर्तः, जीवमीजियकार

कहा रहता है!

वह यह (परमार्थ स्वरूप अक्षर ब्रह्म) परविद्या का विषय यथार्थ है। जिस प्रकार अच्छी प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूप वाली हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं। हे प्रिय दर्शन! उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से अनेक देहादि रूप पदार्थ प्रकट होते हैं और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं ॥१॥

(वह अक्षर ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण) निश्चय ही दिव्य, आकार रहित, पुरुष,

अपरविद्यायाः सर्वं कार्यमुक्तम्। स च संसारो यत्सारो यस्मान्मूलादक्षरात्संभवति

✓ यस्मिंश्च प्रलीयते तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यम्। यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति तत्परस्याः।

✓ ब्रह्मविद्यायाः विषयः स वक्तव्य इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। यदपरविद्याविषयं कर्मफललक्षणं

✓ सत्यं तदापेक्षिकम्। इदं तु परविद्याविषयं परमार्थतः सल्लक्षणत्वात्। तदेतत्सत्यं यथाभूतं

विद्याविषयम्। अविद्याविषयत्वाच्चानृतमितरत्। अत्यन्तपरोक्षत्वात्कथं नाम प्रत्यक्षवत्सत्य-

मक्षरं प्रतिपद्येरन्निति दृष्टान्तमाह—यथा सुदीप्तात्सुष्ठु दीप्ताद्विद्धात्पावकादग्नेर्विस्फुलिङ्गा

अग्न्यवयवाः सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति सरूपा अग्निसलक्षणा एव,

तथोक्तलक्षणादक्षराद्विविधा नानादेहोपाधिभेदमनुविधीयमानत्वाद्विविधा हे सोम्य भावा

जीवा आकाशादिव घटादिपरिच्छिन्नाः सुषिरभेदा घटाद्युपाधिप्रभेदमनुभवन्ति। एवं वि० ५:

नानानामरूपकृतदेहोपाधिप्रभवमनुप्रजायन्ते, यत्र चैव तस्मिन्नेवाक्षरेऽपि यन्ति देहोपाधि-

विलयमनुलीयन्ते घटादिविलयमन्विव सुषिरभेदाः। यथाऽऽकाशस्य सुषिरभेदोत्पत्तिप्रलय-

✓ निमित्तत्वं घटाद्युपाधिकृतमेव, तद्वदक्षरस्यापि नामरूपकृतदेहोपाधिनिमित्तमेव जीवोत्पत्ति-

✓ प्रलयनिमित्तत्वम् ॥१॥

मात्रा

नामरूपबीजभूतादव्याकृताख्यातुस्वविकारापेक्षया परादक्षरात्परं यत्सर्वोपाधि-

भेदवर्जितमक्षरस्यैव स्वरूपमाकाशस्यैव सर्वमूर्तिवर्जितं नेति नेतीत्यादिविशेषणं

विवक्षन्नाह। दिव्यो द्योतनवान्स्वयं ज्योतिष्त्वात्। दिवि वा स्वात्मनि भवोऽलौकिको वा। हि

यस्मादमूर्तः सर्वमूर्तिवर्जितः पुरुषः पूर्णः पुरिशयो वा। दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः

सबाह्याभ्यन्तरः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्तत इति। अजो न जायते कुतश्चित्स्वतोऽन्यस्य जन्म-

✓ निमित्तस्य चाभावात्। यथा जलबुद्बुदादेर्वाख्यादि। यथा नभःसुषिरभेदानां घटादिसर्व-

माया - प्रकृति - जो समझमें न आवे : कथा : कृष्ण अर्जुन को कहा - स्नान कर के आव-
कथा बना अर्जुन - राज कुमार से विवाह - बहुत बच्चे - सतीब के तपस्या - Lord's deed
How much time you will take for bathing - पुनः स्नान - बना अर्जुन .

मुण्डकोपनिषत् मुण्डक २ खण्ड १

99

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥
ब्रह्म का चार मूर्धिका स्वरूप ब्रह्म सबका कारण है। अव्याकृत कारण से पर प्रकृति.

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

बाहर-भीतर-सर्वत्र-वर्तमान, अजन्मा, प्राणरहित, मनोरहित, परशुद्ध एवं (माया कार्य की अपेक्षा)
श्रेष्ठ अक्षर (अव्याकृत प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है ॥२॥

इसी अक्षर ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, सभी इन्द्रियाँ आकाश, वायु,
अग्नि, जल और सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है ॥३॥

भावविकारणां जनिमूलत्वात्तत्प्रतिषेधेन सर्वे प्रतिषिद्धा भवन्ति । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽतोऽज-
रोऽमृतोऽक्षरो ध्रुवोऽभय इत्यर्थः । यद्यपि देहाद्युपाधिभेददृष्टीनामविद्यावशाद्देहभेदेषु सप्राणः
समनाः सेन्द्रियः सविषय इव प्रत्यवभासते तलमलादिमदिवाऽऽकाशं, तथाऽपि तु स्वतः
परमार्थदृष्टीनामप्राणोऽविद्यमानः क्रियाशक्तिभेदवांश्चलनात्मको वायुर्यस्मिन्नसावप्राणः ।
तथाऽमना अनेकज्ञानशक्तिभेदवत्संकल्पाद्यात्मकं मनोऽप्यविद्यमानं यस्मिन्सोऽयममना अप्राणो
ह्यमनाश्चेति । प्राणादिवायुभेदाः कर्मेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च तथा च बुद्धिमनसी बुद्धीन्द्रि-
याणि तद्विषयाश्च प्रतिषिद्धा वेदितव्याः । तथा च श्रुत्यन्तरे ध्यायतीव लेलायतीवेति ।
यस्माच्चैवं प्रतिषिद्धोपाधिद्वयस्तस्माच्छुभ्रः शुद्धः । अतोऽक्षरान्नामरूपबीजोपाधिलक्षित-
स्वरूपात्सर्वकार्यकारणबीजत्वेनोपलक्ष्यमाणत्वात्परं तदुपाधिलक्षणमव्याकृताख्यमक्षरं
सर्वविकारेभ्यस्तस्मात्परतोऽक्षरात्परो निरुपाधिकः पुरुष इत्यर्थः । यस्मिन्स्तदाकाशाख्यमक्षरं
सव्यवहारविषयमोतं प्रोतं च । कथं पुनरप्राणादिमत्त्वं तस्येत्युच्यते । यदि हि प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः
पुरुष इव स्वेनाऽऽत्मना सन्ति तदा पुरुषस्य प्राणादिना विद्यमानेन प्राणादिमत्त्वं भवेन्न
तु ते प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुषः इव स्वेनाऽऽत्मना सन्ति । अतोऽप्राणादिमान्परः पुरुषः ।
यथाऽनुत्पन्ने पुत्रेऽपुत्रो देवदत्तः ॥२॥

कथं ते न सन्ति प्राणादय इत्युच्यते । यस्मादेतस्मादेव पुरुषान्नामरूपबीजोपाधि-
लक्षिताज्जायत उत्पद्यतेऽविद्याविषयविकारभूतो नामधेयोऽनृतात्मकः प्राणः "वाचारम्भणं-
विकारो नामधेयमनृतम्" इति श्रुत्यन्तरात् । न हि तेनाविद्याविषयेणानृतेन प्राणेन सप्राणत्वं
परस्य स्यादपुत्रस्य स्वप्नदृष्टेनेव पुत्रेण सपुत्रत्वम् । एवं मनः सर्वाणि चेन्द्रियाणि
विषयाश्चैतस्मादेव जायन्ते । तस्मात्सिद्धमस्य निरुपचरितमप्राणादिमत्त्वमित्यर्थः । यथा च
प्रागुत्पत्तेः परमार्थतोऽसन्तस्तथा प्रलीनाश्चेति द्रष्टव्याः । यथा करणानि मनश्चेन्द्रियाणि

पृथिवी के अन्तः = उपाय से अवताराय - माण्डूक्य कारिका.

ब्रह्म सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है।
मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

लोक अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे, वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥
रक्षर ब्रह्म से चरित्र की उत्पत्ति।
तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः, सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।

अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र, प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है, वायु प्राण है, समस्त जगत् जिसका हृदय है और जिसके चरणों से पृथिवी प्रकट हुई है। वही देव सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

उस ब्रह्म से (प्रजापति के अवस्था विशेष रूप से) अग्नि उत्पन्न हुई, जिसका समिधा सूर्य है, (क्योंकि सूर्यलोक से ही द्युलोक रूप अग्नि प्रदीप्त होती है।) पुनः सोम से मेघ और

तथा शरीरविषयकारणानि भूतानि खमाकाशं वायुर्बाह्य आवहदिभेदः। ज्योतिरग्निः। आप उदकम्। पृथिवी धरित्री विश्वस्य सर्वस्य धारिणी। एतानि च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धो-
त्तरोत्तरगुणानि पूर्वपूर्वगुणसहितान्येतस्मादेव जायन्ते। संक्षेपतः परविद्याविषयमक्षरं
निर्विशेषं पुरुषं सत्यं दिव्यो ह्यमूर्त इत्यादिना मन्त्रेणोक्त्वा पुनस्तदेव सविशेषं
विस्तरेण वक्तव्यमिति प्रवृत्ते संक्षेपविस्तरोक्तो हि पदार्थः सुखाधिगम्यो भवति
सूत्रभाष्योक्तिवदिति ॥ ३ ॥ (१) अवश्यकाधर्म्योः निमित्त

योऽपि प्रथमजात्प्राणाद्विरण्यगर्भाज्जायतेऽण्डस्यान्तर्विराट् स तत्त्वान्तरितत्वेन लक्ष्यमाणोऽप्येतस्मादेव पुरुषाज्जायत एतन्मयश्चेत्येतदर्थमाह। तं च विशिनष्टि। अग्निर्द्युलोकः "असौ वाव लोको गौतमाग्निः" (छा० ५/४/१) इति श्रुतेः। मूर्धा यस्योत्तमाङ्गं शिरः चक्षुषी चन्द्रश्च सूर्यश्चेति। चन्द्रसूर्यौ यस्येति सर्वत्रानुषङ्गः कर्तव्यः। अस्येत्यस्य पदस्य वक्ष्यमाणस्य यस्येति विपरिणामं कृत्वा, दिशः श्रोत्रे यस्य। वाग्विवृता उद्घाटिताः प्रसिद्धा वेदा यस्य। वायुः प्राणो यस्य हृदयमन्तःकरणं विश्वं समस्तं जगदस्य यस्येत्येतत्। सर्वं ह्यन्तःकरणविकारमेव जगन्मनस्येव सुषुप्ते प्रलयदर्शनात्। जागरितेऽपि तत् एवाग्निविस्फुलिङ्गवद्विप्रतिष्ठानात्। यस्य च पद्भ्यां जाता पृथिवी। एष देवो विष्णुरनन्तः प्रथमशरीरी त्रैलोक्यदेहोपाधिः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स हि सर्वभूतेषु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता सर्वकारणात्मा ॥ ४ ॥

पञ्चाग्निद्वारेण च याः संसरन्ति प्रजास्ता अपि तस्मादेव पुरुषात्प्रजायन्त इत्युच्यते। तस्मात्परस्मात्पुरुषात्प्रजावस्थानविशेषरूपोऽग्निः स विशिष्यते। समिधो यस्य सूर्यः

पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥५॥

साधन साहित कर्म भी परमात्मा से उत्पन्न हुआ

तस्माद्दृचः साम यजूंश्च^१, दीक्षा^१ यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो^२ दक्षिणाश्च^३।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः^४, सोमो यत्र पवते^५, यत्र सूर्यः^५ ॥६॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयाथंसि।

उससे पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। (उन औषधियों से उत्पन्न हुए) वीर्य को पुरुष योषित रूप अग्नि में सींचता है। इस प्रकार ब्राह्मणादि रूप बहुत-सी प्रजा परम पुरुष से उत्पन्न हुई है ॥५॥

उस पुरुष से ही (नियत पाद अक्षर वाले) ऋचाएँ (पाञ्चभक्तिक आदि गान विशिष्ट रूप) साम मन्त्र, (अनियत पाद अक्षर वाले) यजुर्मन्त्र, मौञ्जी बन्धनादि दीक्षा, अग्निहोत्रादि यज्ञ, दक्षिणा, सम्प्रवत्सर (सम्प्रवत्सर रूप कर्माङ्ककाल) यज्ञकर्ता यजमान, लोक, जिन लोकों में चद्रमा जहाँ तक पवित्र करता है तथा सूर्य तपता है, वे सभी उत्पन्न होते हैं ॥६॥

उस पुरुष से ही (कर्म के अङ्गभूत) बहुत से वसु आदि देवता उत्पन्न हुए हैं तथा साध्यगण कर्माधिकारी मनुष्य, पशु-पक्षी, श्वास, उच्छ्वास, व्रीहि, यवादि हविष्यान, तप (सम्पूर्ण

समिध इव समिधः। सूर्येण हि द्युलोकः^१ समिध्यते। ततो हि द्युलोकान्निष्पन्नात्सोमात्पर्जन्यो^२ द्वितीयोऽग्निः संभवति। तस्माच्च पर्जन्यादोषधयः पृथिव्यां संभवन्ति। औषधिभ्यः पुरुषाग्नौ हुताभ्य उपादानभूताभ्यः पुमानग्नी रेतः सिञ्चति योषितायां योषिति योषाग्नौ स्त्रियामिति। एवं क्रमेण बह्वीर्बह्व्यः प्रजा ब्राह्मणाद्याः पुरुषात्परस्मात्संप्रसूताः समुत्पन्नाः ॥५॥

किंच कर्मसाधनानि फलानि च तस्मादेवेत्याह। कथं? तस्मात्पुरुषादृचो^१ नियताक्षरपादावसाना गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा मन्त्राः। सामपाञ्चभक्तिकं साप्तभक्तिकं च स्तोभादिगीतविशिष्टम्। यजूंष्यनियताक्षरपादावसानानि वाक्यरूपाण्येवं त्रिविधा मन्त्राः। दीक्षामौञ्ज्यादिलक्षणाः कर्तृनियमविशेषाः। यज्ञाश्च सर्वेऽग्निहोत्रादयः। क्रतवः सयूपाः। दक्षिणाश्चैकगवाद्यपरिमितसर्वस्वान्ताः। संवत्सरश्च कालः कर्माङ्कः। यजमानश्च कर्ता। लोकास्तस्य कर्मफलभूतास्ते विशेष्यन्ते सोमो यत्र येषु लोकेषु पवते पुनाति लोकान्यत्र येषु सूर्यस्तपति च ते च दक्षिणायनोत्तरायणमार्गद्वयगम्या विद्वदविद्वत्कर्तृ-फलभूताः ॥६॥

तस्माच्च पुरुषात्कर्माङ्गभूता देवा बहुधा वस्वादिगणभेदेन संप्रसूताः सम्यक्प्रसूताः।

प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च^४ श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।

स सत्यं इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

पुरुषार्थ के साधनों का एक मात्र कारण), आस्तिक्य बद्धिरूप श्रद्धा, हितमित भाषण, अष्ट मैथुनों का त्याग रूप ब्रह्मचर्य और विधि, (ये सभी उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं)॥७॥

उस पुरुष से ही (दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक मुख— ये मस्तकस्थ) सात प्राण उत्पन्न होते हैं। उसी से (अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करने वाली) उनकी सात दीप्तियाँ, सात विषय रूप समिधा, सात विषय विज्ञान रूप होम और जिन गोलकों में ये प्राण संचार करते हैं वे सात स्थान प्रकट हुए हैं। इस प्रकार प्रतिदेह में स्थापित ये सात-सात पदार्थ (उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा आत्मयाजी पुरुष को जानना चाहिये)॥८॥

साध्या देवविशेषाः। मनुष्याः कर्माधिकृताः। पशवो ग्राह्याण्यः। वयांसि पक्षिणः।
✓ जीवनं च मनुष्यादीनाम्। प्राणापानौ ब्रीहियवौ हविरथौ। तपश्च कर्माङ्गं पुरुष-
✓ संस्कारलक्षणं स्वतन्त्रं च फलसाधनम्। श्रद्धा यत्पूर्वकः सर्वपुरुषार्थसाधनप्रयोगश्चित्तप्रसाद
✓ आस्तिक्यबुद्धिस्तथा सत्यमनृतवर्जनं यथाभूतार्थवचनं चापीडाकरम्। ब्रह्मचर्यं मैथुना-
समाचारः। विधिश्चेतिकर्तव्यता ॥७॥

किंच सप्त शीर्षण्या प्राणास्तस्मादेव परुषात्प्रभवन्ति। तेषां च सप्ताचिषो दीप्तयः
स्वविषयावद्योतनानि। तथा सप्त समिधः सप्त विषयाः। विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः। सप्त
होमास्तद्विषयविज्ञानानि "यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति" इति श्रुत्यन्तरात्। किंच सप्तेमे लोका
इन्द्रियस्थानानि येषु चरन्ति संचरन्ति प्राणाः। प्राणा येषु चरन्तीति प्राणानां विशेषणमिदं
प्राणापानादिनिवृत्त्यर्थम्। गुहायां शरीरे हृदये वा स्वापकाले शेरत इति गुहाशयाः।
निहिताः स्थापिता धात्रा सप्त सप्त प्रतिप्राणिभेदम्। यानि चाऽऽत्मयाजिनां विदुषां कर्माणि
कर्मफलानि चाविदुषां च कर्माणि तत्साधनानि कर्मफलानि च सर्वं चैतत्परस्मादेव
पुरुषात्सर्वज्ञात्प्रसूतमिति प्रकरणार्थः ॥८॥

यात्रा से - षण्पकता भगवान् को नष्ट किया व्यास जी.
स्त्रेय से निर्गुण लिराकार को सगुण साकार किया -
तीव्र रचना से. परिच्छिन्न बनाया.
मुण्डकोपनिषत् मुण्डक २. खण्ड १

२१

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥
पुरुष एवेदं विश्वं, कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥१०॥
इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

इस पुरुष से ही क्षारादि सात समुद्र और हिमालयादि समस्त पर्वत उत्पन्न हुए हैं। गंगा आदि अनेक रूपों वाली नदियाँ इसी से प्रवाहित होती हैं। इसी से व्रीहि, यवादि सम्पूर्ण औषधियाँ तथा मधुरादि षड्विध रस उत्पन्न हो रहे हैं। जिस रस से भूतों से परिवेष्टित हुआ यह अन्तरात्मा स्थित होता है ॥९॥

यह सारा जगत् अग्निहोत्रादि रूप कर्म और ज्ञानरूप तप पुरुष स्वरूप ही है। यह सब परामृत स्वरूप ब्रह्म ही है। उसे जो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित जानता है। हे प्रियदर्शन! वह इस विज्ञान के द्वारा इस लोक में जीते जी अविद्या ग्रन्थि का छेदन कर डालता है ॥१०॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः

अतः पुरुषात्समुद्राः सर्वे क्षाराद्याः। गिरयश्च हिमवदादयोऽस्मादेव पुरुषात्सर्वे स्यन्दन्ते स्रवन्ति गङ्गाद्याः सिन्धवो नद्यः सर्वरूपा बहुरूपाः। अस्मादेव पुरुषात्सर्वा ओषधयो व्रीहियवाद्याः। रसश्च मधुरादिः षड्विधो येन रसेन भूतैः पञ्चभिः स्थूलैः परिवेष्टितस्तिष्ठते तिष्ठति ह्यन्तरात्मा लिङ्गं सूक्ष्मं शरीरम्। तद्ध्यन्तराले शरीरस्याऽऽत्मनश्चाऽऽत्मवद्वर्तते इत्यन्तरात्मा ॥९॥

एवं पुरुषात्सर्वमिदं संप्रसूतम्। अतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं, पुरुषः इत्येव सत्यम्। अतः पुरुषः एवेदं विश्वं सर्वम्। न विश्वं नाम पुरुषादन्यत्किंचिदस्ति। अतो यदुक्तं तदेतदभिहितं कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। एतस्मिन् परस्मिन्नात्मनि सर्वकारणे पुरुषे विज्ञाते पुरुष एवेदं विश्वं नान्यदस्तीति विज्ञातं भवतीति। किं पुनरिदं विश्वमित्युच्यते। कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम्। तपो ज्ञानं तत्कृतं फलमन्यदेतावद्भीदं सर्वम्। तच्चैतद्ब्रह्मणः कार्यं तस्मात्सर्वं ब्रह्म परामृतं परममृतमहमेवेति यो वेद निहितं स्थितं गुहायां हृदि सर्वप्राणिनां स एवं विज्ञानादविद्याग्रन्थिं ग्रन्थिमिव दृढीभूतामविद्यावासनां विकिरति विक्षिपति नाशयतीह जीवन्नेव न मृतः सन्हे सोम्य प्रियदर्शन ॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

॥ १- आह्निकम् ॥

ब्रह्म का स्वरूप निर्देश पूर्वक जानने के लिये आदेश।

अथ द्वितीयमण्डके द्वितीयः खण्डः

अत्राजि संम्यक्स्थित हृदि

प्रकाशः } आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैत- बुद्धिरूप गुहा।
विष्णुः } त्समर्पितम्। एजत्प्राणान्निमिषच्च यदेतज्ज्ञानथ- सर्वपदार्थोऽस्पदत्वात्
रणीयं प्रार्थनीयं } सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१॥ सर्वदोषरहितत्वात्
ब्रह्म में मनो निवेश का विधान

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।

भूरादयः

यह प्रकाशमान् ब्रह्म सबके हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है। वह श्रवणादि द्वारा बुद्धि रूपी गुफा में उपलब्ध होने के कारण गुहाचर नाम वाला और सबसे बड़े होने के कारण महत् पद है। इसी में चलने-फिरने वाले पक्षी आदि, प्राणन करने वाले मनुष्यादि एवं निमेष-उन्मेष आदि क्रिया वाले ये सभी जीव समर्पित हैं। तुम इसे सदसत् स्वरूप सबका प्रार्थनीय, प्रजाओं के विज्ञान से परे और सभी श्रेष्ठ पदार्थों में भी श्रेष्ठ जानो ॥१॥

सूर्यादि के प्रकाशक होने से जो दीप्तिमान् और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक और उनके निवासी मनुष्यादि स्थित हैं, वही यह सबका आश्रयभूत अक्षर ब्रह्म है। वही

अरूपं सदक्षरं केन प्रकारेण विज्ञेयमित्युच्यते। आविः प्रकाशं संनिहितं वागाद्युपा-
ध्विभिर्ज्वलति भ्राजतीति श्रुत्यन्तराच्छब्दादीनुपलभमानवदवभासते। दर्शनश्रवणमनन-
विज्ञानाद्युपाधिधर्मैराविर्भूतं सल्लक्ष्यते हृदि सर्वप्राणिनाम्। यदेतदाविर्ब्रह्म संनिहितं
सम्यक्स्थितं हृदि तदगुहाचरं नाम गुहायां चरतीति दर्शनश्रवणादिप्रकारैर्गुहाचरमिति
प्रख्यातम्। महत्सर्वमहत्त्वात्पदं पृथगते सर्वेणेति सर्वपदार्थास्पदत्वात्। कथं तन्महत्पद-
मित्युच्यते। यतोऽत्रास्मिन्ब्रह्मण्येतत्सर्वं समर्पितं प्रवेशितं रथनाभाविचारं एजच्चलत्यक्ष्यादि।
प्राणत्प्राणितीति प्राणापानादिमन्मनुष्यपशवादि। निमिषच्च यन्निमेषादिक्रियावद्यच्चा-
निमिषच्चशब्दात्समस्तमेतदत्रैव ब्रह्मणि समर्पितम्। एतद्यदास्पदं सर्वं ज्ञानथ हे शिष्या
अवगच्छथ तदात्मभूतं भवतां सदसत्स्वरूपम्। सदसतोर्मुर्तामूर्तयोः स्थूलसूक्ष्मयो-
स्तद्व्यतिरेकेणाभावात्। वरेण्यं वरणीयं तदेव हि सर्वस्य नित्यत्वात्प्रार्थनीयं परं व्यतिरिक्तं
विज्ञानात्प्रजानामिति व्यवहितेन संबन्धो यल्लौकिकविज्ञानागोचरमित्यर्थः। यद्वरिष्ठं वरतमं
सर्वपदार्थेषु वरेषु तद्व्येकं ब्रह्मातिशयेन वरं सर्वदोषरहितत्वात् ॥१॥

किंच यदर्चिमहीसिमत्तदीप्त्याऽऽदित्यादि दीप्यत इति दीप्तिमद्ब्रह्म। किंच यदणुभ्यः श्यामाकादिभ्योऽप्यणु च सूक्ष्मम्। चशब्दात्स्थूलेभ्योऽप्यतिशयेन स्थूलं पृथिव्यादिभ्यः। यस्मिँल्लोका भूरादयो निहिताः स्थिताः। ये च लोकिनो लोकनिवासिनो मनुष्यादय-

अध्याय (२)

तदेतदक्षरं ब्रह्म स) प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तद-

मृतं तद्वेद्ध्यं सोम्यविद्धि ॥२॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं) महास्त्रं, शरं ह्युपासानिशितं) संधयीत ।

आयम्य तद्वावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

प्राण है, तथा वही वाणी और मन है, वही यह सदा एक रस रहने से सत्य और अमृत है। हे सोम्य! उसे समाहित मन से वेधना चाहिये। अतः तू उनका वेधन कर ॥२॥

हे सोम्य! उपनिषद् वेद्य, महान-अस्त्र रूप शरासन को लेकर उस पर उपासना से तीक्ष्ण किये हुए मनरूपी बाण को चढ़ाओ और फिर इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण को विषयों के तरफ से लौटाकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से अपने लक्ष्य उसी अक्षर ब्रह्म का वेधन करो ॥३॥

ओंकार धनुष है, सोपाधिक आत्मा बाण है, और अक्षर ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा गया

श्रैतन्याश्रया हि सर्वे प्रसिद्धास्तदेतत्सर्वाश्रयमक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनो वाक्च मनश्च सर्वाणि च करणानि तद्वन्तश्चैतन्यं चैतन्याश्रयो हि प्राणेन्द्रियादिसर्वसंघातः "प्राणस्य प्राणम्" (बृ० ४/४/१८) इति श्रुत्यन्तरात् । यत्प्राणादीनामन्तश्चैतन्यमक्षरं तदेतत्सत्यम- वितथमतोऽमृतमविनाशि तद्वेद्ध्यं मनसा ताडयितव्यम् । तस्मिन्मनः समाधानं कर्तव्यमित्यर्थः । यस्मादेवं हे सोम्य विद्ध्यक्षरे चेतः समाधत्स्व ॥२॥

कथं वेद्ध्यमित्युच्यते । धनुरिष्वासनं गृहीत्वाऽऽदायौपनिषदमुपनिषत्सु भवं प्रसिद्धं महास्त्रं महच्च तदस्त्रं च महास्त्रं धनुस्तस्मिञ्शरम् । किंविशिष्टमित्याह । उपासानिशितं संतताभिध्यानेन तनूकृतं संस्कृतमित्येतत् । संधयीत संधानं कुर्यात् । संधाय चाऽऽयम्याकृष्य सैन्द्रियमन्तःकरणं स्वविषयाद्विनिवर्त्य लक्ष्ये एवाऽऽवर्जितं कृत्वेत्यर्थः । न हि हस्तेनेव धनुष आयमनमिह संभवति । तद्वावगतेन तस्मिन्ब्रह्मण्यक्षरे लक्ष्ये भावना भावस्तद्गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेव यथोक्तलक्षणमक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

यदुक्तं धनुरादि तदुच्यते । प्रणवः ओंकारो धनुः । यथेष्वासनं लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणं तथाऽऽत्मशरस्याक्षरे लक्ष्ये प्रवेशकारणमोंकारः । प्रणवेन ह्यभ्यस्यमानेन

बाह्यरविमय रूपं (विषय) तृष्णा प्रमाद रक्षित ; वराग्न प्रवक्तु ; वशीकृत इन्द्रियो के द्वार,
एकाग्रचित्त से विषय तृष्णारूपी प्रमाद रक्षित

अप्रमत्तेन वेद्ध्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४॥

→ Ball falling from the steps (शंकराचार्य eg. Villages End)

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । करणैः

नोक ३ नोक

रविमय तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥५॥
Never believe in politics. I believe only in God the rest is only chaff
संसारमहादधे रुतरण हेतु बान् आत्म

है, बड़ी सावधानी से उस लक्ष्य का वेधन करना चाहिये और (वेधन करने के अनन्तर) बाण के समान ही लक्ष्य के साथ तन्मय हो जाना चाहिये ॥४॥

हे शिष्यगण! जिस अक्षर पुरुष में द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण इन्द्रियों के सहित मन समर्पित है; उसी अद्वितीय आत्मा को जानो और अन्य बातों को छोड़ दो, क्योंकि यही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है ॥५॥

- ✓ संस्क्रियमाणस्तदालम्बनोऽप्रतिबन्धेनाक्षरेऽवतिष्ठते यथा धनुषाऽऽस्त इषुर्लक्ष्ये । अतः प्रणवो धनुरिव धनुः । शरो ह्यात्मोपाधिलक्षणः पर एव जले सूर्यादिवदिह प्रविष्टो देहे सर्वबौद्ध-प्रत्ययसाक्षितया स शर इव स्वात्मन्येवार्पितोऽक्षरे ब्रह्मण्यतो ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते लक्ष्य इव
- ✓ मनःसमाधित्सुभिरात्मभावेन लक्ष्यमाणत्वात् । तत्रैवं सत्यप्रमत्तेन बाह्यविषयोपलब्धितृष्णा-
- ✓ प्रमादवर्जितेन सर्वतो विरक्तेन जितेन्द्रियेणैकाग्रचित्तेन वेद्ध्यं ब्रह्म लक्ष्यम् । ततस्तद्वेध-नादूर्ध्वं शरवत्तन्मयो भवेत् । यथा शरस्य लक्ष्यैकात्मत्वं फलं भवति । तथा देहाद्या-त्मप्रत्ययतिरस्करणेनाक्षरैकात्मत्वं फलमापादयेदित्यर्थः ॥४॥

- अक्षरस्यैव दुर्लक्ष्यत्वात्पुनः पुनर्वचनं सुलक्षणार्थम् । यस्मिन्नक्षरे पुरुषे द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं चोतं समर्पितं मनश्च सह प्राणैः करणैरन्यैः सर्वैस्तमेव सर्वाश्रयमेकमद्वितीयं जानथ जानीथ हे शिष्याः । आत्मानं प्रत्यक्स्वरूपं युष्माकं सर्वप्राणिनां च ज्ञात्वा चान्या वाचोऽपरविद्यारूपा विमुञ्चथ विमुञ्चत परित्यजत । तत्प्रकाशं च सर्वं कर्म ससाधनम् । यतोऽमृतस्यैष सेतुरेतदात्मज्ञानममृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहोदधेरु-
- ✓ त्तरणहेतुत्वात्तथा च श्रुत्यन्तरम् — “तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” (श्वे० ३/८, ६/१५) इति ॥५॥

नरसी भक्त - कन्या का विवाह - भगवान् कय - pen niless devotee.

प्रणव - सूक्ष्म - ओं.

स्थूल - ओं नमः शिवाय.

२५

आकाररूप से ब्रह्म (मुण्डकोपनिषत् मुण्डक २ खण्ड २ चिन्तन की विधि)

संप्रविष्टा अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः, स एषोऽन्तश्चरते आत्मा अन्तः वर्तते.

बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं

कल्याण के स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥ अविद्या तमसः ध्यान करे।
हम प्राप्तिमाशास्ते पर ब्रह्म का स्वरूप तथा चिन्तन प्रकार।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि द्यावापृथिव्यौ शासने तिष्ठतः

बोद्ध सर्वप्रत्यक्ष कृत व्योतने दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, इश्वर जंगम, बुद्धि, कर्म कृत शासन

मनोमयः प्राणशरीरनेता, प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।

मिन उफानि बात, धृति धिरे व अधिगमि। अन्नमय शरीर हृदये आत्मा स्थितः

जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरे सम्मिलित रहते हैं, वैसे ही शरीर में सर्वत्र व्याप्त सम्पूर्ण नाड़ियाँ जिसमें एकत्रित हैं, उस हृदय के भीतर दर्शन श्रवणादि जन्य अनेक बुद्धिवृत्तियाँ संचार करती हैं। उन बुद्धिवृत्तियों का साक्षीभूत आत्मा का 'ॐ' इस प्रकार ध्यान करो। अज्ञान के उस पार जाने से तुम्हारा कल्याण हो, अर्थात् कल्याण प्राप्ति में किसी प्रकार के विघ्न बाधा न हो ॥६॥

जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है और जिसकी यह प्रसिद्ध विभूति भूलोक में स्थित है वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर हृदयाकाश में विद्यमान है। वह मनोमय तथा प्राण और सूक्ष्म शरीर को एक स्थूल देह से दूसरे स्थूल देह में ले जाने वाला पुरुष हृदय में रहकर अन्नमय शरीर

किंच। अरा इव। यथा रथनाभौ समर्पिता अरा एवं संहताः संप्रविष्टा यत्र यस्मिन्हृदये सर्वतो देहव्यापिन्यो नाड्यस्तस्मिन्हृदये बुद्धिप्रत्ययसाक्षिभूतः स एष प्रकृत आत्माऽन्तर्मध्ये चरते चरति वर्तते। पश्यञ्भृण्वन्मन्वानो विजानन्बहुधाऽनेकधा क्रोधहर्षादिप्रत्ययैर्जायमान इव जायमानोऽन्तःकरणोपाध्यनुविधायित्वाद्वदन्ति लौकिका हृष्टो जातः क्रुद्धो जात इति। तमात्मानमोमित्येवमोंकारालम्बनाः सन्तो यथोक्तकल्पनया ध्यायथ चिन्तयत। उक्तं वक्तव्यं च शिष्येभ्य आचार्येण जानता। शिष्याश्च ब्रह्मविद्याविविदिषुत्वान्निवृत्तकर्माणो मोक्षपथे प्रवृत्ताः। तेषां निर्विघ्नतया ब्रह्मप्राप्तिमाशास्त्याचार्यः। स्वस्ति निर्विघ्नमस्तु वो युष्माकं पाराय परकूलाय परस्तात्कस्मादविद्यातमसः। अविद्यारहितब्रह्मात्मस्वरूपगमनायेत्यर्थः ॥६॥

योऽसौ तमसः परस्तात्संसारमहोदधिं तीर्त्वा गन्तव्यः परविद्याविषयः स कस्मिन्वर्तत इत्याह। यः सर्वज्ञः सर्वविद्व्याख्यातः। तं पुनर्विशिनष्टि। यस्यैष प्रसिद्धो महिमा विभूतिः कोऽसौ महिमा। यस्येमे द्यावापृथिव्यौ शासने विधृते तिष्ठतः। सूर्याचन्द्रमसौ यस्य

विवेकहीन को परमात्मा पर विष्वास - (क) किंतु नमक समुद्र में
 (ख) हिमालय (ग) सूर्य (घ) चन्द्र
 देखने पर नहीं विष्वास हुआ तो, आज वत, महाभारत सुनने पर भी
 २६ शिवाचार्योपदेश जनिनेन ज्ञानेन शमदमध्यान सर्वत्यागवैराग्योद्भूतेन
 सिताक्षराहिन्दिव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता विष्वास नहीं होगा ॥

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥७॥

ब्रह्म साक्षात्कार का फल बुद्धिशाश्रय काम्यः

भिक्षते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । ज्ञेयविषया संशयाः
 क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८॥

पर्वत के सामने ऊँट जैसे, प्रजापति आदि परमात्मा से छोटा । पराऽपि अवरः परमात्मा
 में स्थित है । उसका अनुभव हो जाने पर ही तत्त्वज्ञानी पुरुष उस तत्त्व का सम्यक् साक्षात्कार
 कर लेते हैं । जो कि सम्पूर्ण अनर्थ दुःखादि से रहित आनन्द स्वरूप अमृत ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित
 हो रहा है ॥७॥

(जो कारण रूप से पर और कार्य रूप से अपर है) उस परापर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार
 हो जाने पर इस जीव की आत्मानात्माध्यास रूप हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है । ज्ञेय पदार्थ
 विषयक सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो जाते हैं और इसके (प्रारब्ध से भिन्न) सभी कर्म क्षीण हो जाते
 हैं ॥८॥

नदी

शासनेऽलातचक्रवदजस्रं भ्रमतः । यस्य शासने सरितः सागराश्च स्वगोचरं नातिक्रामन्ति ।
 तथा स्थावरं जङ्गमं च यस्य शासने नियतम् । तथा चर्तवोऽयने अब्दाश्च यस्य शासनं years .
 नातिक्रामन्ति । तथा कर्तारः कर्माणि फलं च यच्छासनात्स्वं स्वं कालं नातिवर्तन्ते, स एष
 महिमा भुवि लोके । यस्य स एष सर्वज्ञ एव महिमा देवः । दिव्ये द्योतनवति सर्वबौद्धप्रत्य-
 यकृतद्योतने ब्रह्मपुरे । ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यस्वरूपेण नित्याभिव्यक्तत्वाद्ब्रह्मणः पुरं
 हृदयपुण्डरीकं तस्मिन्दव्योम तस्मिन्द्योम्याकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे प्रतिष्ठित इवोपलभ्यते ।
 न ह्याकाशवत्सर्वगतस्य गतिरागतिः प्रतिष्ठा वाऽन्यथा संभवति । स ह्यात्मा तत्रस्थो मनो-
 वृत्तिभिरेव विभाव्यत इति मनोमयो मनोपाधित्वात्प्राणशरीरनेता प्राणश्च शरीरं च
 प्राणशरीरं तस्यायं नेता स्थूलाच्छरीराच्छरीरान्तरं प्रति । प्रतिष्ठितोऽवस्थितोऽने भुज्यमाना-
 न्नविपरिणामे प्रतिदिनमुपचीयमानेऽपचीयमाने च पिण्डरूपान्ते हृदयं बुद्धिं पुण्डरीकच्छिद्रे धटने
 संनिधाय समवस्थाप्य । हृदयावस्थानमेव ह्यात्मनः स्थितिर्न ह्यात्मनः स्थितिरने । तदात्मतत्त्वं
 विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्राचार्योपदेशजनिनेन ज्ञानेन शमदमध्यानसर्वत्यागवैराग्योद्भूतेन
 परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं पश्यन्त्युपलभन्ते धीरा विवेकिनः । आनन्दरूपं सर्वानर्थदुःखायास-
 प्रहीणममृतं यद्विभाति विशेषेण स्वात्मन्येव भाति सर्वदा ॥७॥

अस्य परमात्मज्ञानस्य फलमिदमभिधीयते । भिक्षते हृदयग्रन्थिरविद्यावासनाप्रचयो विस्तार
 बुद्ध्याश्रयः कामः "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" (कठ० २/३/१४) इति श्रुत्यन्तरात् ।
 हृदयाश्रयोऽसौ, नाऽऽत्माश्रयः । भिक्षते भेदं विनाशमायाति । छिद्यन्ते सर्वे ज्ञेयविषयाः संशया

बुद्धि विज्ञान स्वयं प्रकाश ब्रह्म मुण्डकोपनिषत् मुण्डक २ खण्ड २ २७
 ज्योतिर्मये कोशे दोषमलवर्जितं
 हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। ब्रह्म तत्त्व विद्यमानं
 तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥९॥ हृदि.
सबको प्रकाशक ब्रह्म
 न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति

बुद्धि वृत्ति के प्रकाशमय परमकोश में वह विशुद्ध कलारहित ब्रह्मतत्त्व विद्यमान है। वह सम्पूर्ण ज्योतियों की विशुद्ध ज्योति स्वरूप है और वह यही तत्त्व है, जिसका आत्मज्ञानी पुरुष हृदय में साक्षात्कार करते हैं॥९॥

वहाँ आत्मस्वरूप ब्रह्म में सबको प्रकाशित करने वाला यह सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता है और न चन्द्रमा तथा तारे भी वहाँ पर प्रकाशित नहीं होते हैं। वहाँ यह बिजली भी नहीं

लौकिकानामामरणात्तु गङ्गास्रोतोवत्प्रवृत्ताविच्छेदमायान्ति। अस्य विच्छिन्नसंश्रय^य निवृत्ताविद्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि, जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि। न त्वेतज्जन्मारम्भाणि, प्रवृत्तफलत्वात्तस्मिन्सर्वज्ञेऽसंसारिणि परावरे परं च कारणात्मनाऽवरं च कार्यात्मना तस्मिन्परावरे साक्षाद्ब्रह्मस्मीति दृष्टे संसारकारणोच्छेदान्मुच्यते इत्यर्थः॥८॥

उक्तस्यैवार्थस्य संक्षेपाभिधायका उत्तरे मन्त्रास्त्रयोऽपि हिरण्मये ज्योतिर्मये बुद्धिविज्ञानप्रकाशे परे कोशे कोश इवासेः। आत्मस्वरूपोपलब्धिस्थानत्वात्परं तत्सर्वाभ्यान्तरत्वात्तस्मिन्विरजमविद्याद्यशेषदोषरजोमलवर्जितं ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्सर्वात्मत्वाच्च, निष्कलं निर्गताः कला यस्मात्तन्निष्कलं निरवयवमित्यर्थः। यस्माद्विरजं निष्कलं चातस्तच्छुभ्रं शुद्धं ज्योतिषां सर्वप्रकाशात्मनामग्न्यादीनामपि तज्ज्योतिरवभासकम्। अग्न्यादीनामपि ज्योतिष्मन्तर्गतब्रह्मात्मचैतन्यज्योतिर्निमित्तमित्यर्थः। तद्धि परं ज्योतिर्यदन्यानवभास्यमात्मज्योतिस्तद्यदात्मविद आत्मानं स्वं शब्दादिविषयबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणं ये विवेकिनो विदुर्विजानन्ति ते आत्मविदस्तद्विदुरात्मप्रत्ययानुसारिणः। यस्मात्परं ज्योतिस्तस्मात्ते एव तद्विदुर्नेतरे बाह्यार्थप्रत्ययानुसारिणः॥९॥

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्युच्यते। न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति। तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। स हि तस्यैव भासा सर्वमन्यदनात्मजातं प्रकाशयतीत्यर्थः। न तु तस्य स्वतः प्रकाशनसामर्थ्यम्। तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः। किं बहुना। यदिदं जगद्भाति तत्तमेव परमेश्वरं स्वतो

धन हो तो दान नै से ही
अष्टम प्रकाश
सबको प्रकाशित

कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा
सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

सर्व व्यापक ब्रह्म

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

॥ इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥

चमकती, फिर भला यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकती है। उसके प्रकाशित होने पर ही ये सभी प्रकाशित होते हैं। विशेष क्या? ये सब कुछ उसी प्रकाश से भासित हो रहे हैं ॥१०॥

यह अमृत स्वरूप ब्रह्म ही सबके आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, दायें और बायें ओर भी वही है तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर सभी ओर फैला हुआ है। अधिक क्या कहें? यह सम्पूर्ण विश्व सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म स्वरूप ही तो है (उसी में रज्जू सर्प की भाँति यह संसार भास रहा है) ॥११॥

॥ इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयखण्डः ॥

॥ इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥

भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा जूलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्त-
मनुदहति, न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्या सर्वमिदं सूर्यादिजगद्विभाति। यत् एव तदेव
ब्रह्म भाति च विभाति च कार्यगतेन विविधेन भासाऽतस्तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं
स्वतोऽवगम्यते। न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्नोति। घटादीनामन्याव-
भासकत्वादर्शनाद्भारूपाणां चाऽऽदित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥१०॥

यत्तज्ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्म, तदेव सत्यं सर्वं तद्विकारं वाचारम्भणं विकारो
नामधेयमात्रमनृतमितरदित्येतमर्थं विस्तरेण हेतुतः प्रतिपादितं निगमनस्थानीयेन मन्त्रेण
पुनरुपसंहरति। ब्रह्मैवोक्तलक्षणमिदं यत्पुरस्तादग्रेऽब्रह्मैवाविद्यादृष्टीनां प्रत्यवभासमानं तथा
पश्चाद्ब्रह्म तथा दक्षिणतश्च तथोत्तरेण तथैवाधस्तादूर्ध्वं च सर्वतोऽन्यदिव कार्याकारेण
प्रसृतं प्रगतं नामरूपवदवभासमानम्। किं बहुना ब्रह्मैवेदं विश्वं समस्तमिदं जगद्वरिष्ठं
वरतमम्। अब्रह्मप्रत्ययः सर्वोऽविद्यामात्रो रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः। ब्रह्मैवैकं परमार्थसत्यमिति
वेदानुशासनम् ॥११॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥२॥

⑧ (तार्किक) ग्रन्थि ग्रन्थि वस्त्रिभस्वजीना लिटः किल वा " इति व्याकरणान्तरम्.
 "स्वदेः परस्म लिटि" (2361 सूत्रे) स्वज्जेकप संख्यानाम् "ला) अतो अउभासात्प-
 स्वज्ज = नलोपः किल पक्षे न लोपः -रस्म पक्षे न.
 2275 (सू) परिनिविश्यः सेन सित सम क्षिबु सट्ट सुट्टं स्वज्जाम्" पलां उपात् (8-3-70)

⑨ अथ तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः

एक वृक्ष पर दो पक्षी।
 द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्विजाते। अस्मितौ।
 तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥ त्रिङोपाध्यात्मैक्ये
 परमेश्वर का दर्शन ही जीव का शोक नाशक है। यड. लुगन्त.
 समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। निकृष्ट भाव सदा

जो सर्वदा साथ-साथ रहने वाले और समान आख्यान वाले दो पक्षी हैं। ये दोनों एक शरीर रूप वृक्ष के आश्रित हैं। उनमें एक तो क्षेत्रज्ञ जीव अपने कर्म से प्राप्त होने वाले स्वादिष्ट सुख-दुःख रूप फल का उपभोग करता है और दूसरा (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव परमात्मा) कर्म फल का भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है ॥१॥

(ईश्वर के साथ) एक ही शरीर रूप वृक्ष पर रहने वाला जीव अपने अनीशत्व के कारण अपने को असमर्थ मानता हुआ मोह के वशीभूत होकर शोक करता है। पर वह जिस

परा विद्योक्ता यया तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यमधिगम्यते। यदधिगमे हृदयग्रन्थ्यादि-
 संसारकारणस्याऽऽत्यन्तिकविनाशः स्यात्। तद्दर्शनोपायश्च योगो धनुराद्युपादानकल्पनयोक्तः।
 अथेदानीं तत्सहकारीणि सत्यादिसाधनानि वक्तव्यानीति तदर्थमुत्तरारम्भः। प्राधान्येन
 तत्त्वनिर्धारणं च प्रकारान्तरेण क्रियते अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात्कृतमपि तत्र सूत्रभूतो मन्त्रः
 परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते द्वा द्वौ सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णौ पक्षि-
 सामान्याद्वा सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ सखाया सखायौ समानाख्यानौ
 समानाभिव्यक्तिकारणावेवंभूतौ सन्तौ समानमविशेषमुपलब्ध्यधिष्ठानतयैकं वृक्षं
 वृक्षमिवोच्छेदनसामान्याच्छरीरं वृक्षं परिषस्विजाते परिष्वक्तवन्तौ। सुपर्णाविवैकं वृक्षं
 फलोपभोगार्थम्। अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः
 सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयस्तं परिष्वक्तौ सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपा-
 ध्यात्मेश्वरौ। तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रितः पिप्पलं
 कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वाद्वनेकविचित्रवेदनास्वादरूपं स्वाद्वत्ति भक्षयत्यु-
 पभुङ्क्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्य इतरः ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सत्त्वोपा-
 धिरीश्वरो नाश्नाति। प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण।
 स त्वनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति पश्यत्येव केवलम्। दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं न
 राजवत् ॥१॥

तत्रैवं सति समाने वृक्षे यथोक्ते शरीरे पुरुषो भोक्ता जीवोऽविद्याकामकर्मफल-
 रागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव सामुद्रे जले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नोऽयमे-

३०
प्राप्ति से -
सेवितं

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

स्थायं ज्योतिः स्वभावं

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । सर्वजगतः

दग्ध्वा तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

समता अद्वयत्वं

समय अपने से विलक्षण, योगियों से सेवित परमेश्वर और उसकी संसार महिमा को देखता है, उस समय वह शोक से मुक्त हो जाता है ॥२॥

जब तत्त्वद्रष्टा (चेतन) स्वयंप्रकाश यह सुवर्ण के समान प्रकाशमान सुवर्ण वर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्ति स्थान उस जगन्निर्माता परमेश्वर पुरुष को देखता है, उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनों को त्याग कर विशुद्ध हो अत्यन्त समानता को प्राप्त हो जाता है ॥३॥

(१) नाहमीश्वरः इति - अन्वयः शक्तिः
अहं दुःखी सुखी इति - अक्षयः शक्तिः = अहं करोमि

वाहममुष्य पुत्रोऽस्य नत्ता कृशः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखीदुःखीत्येवंप्रत्ययो नास्त्य-
न्योऽस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते वियुज्यते च संबन्धिबान्धवैः । अतोऽनीशया न
कस्यचित्समर्थोऽहं, पुत्रो मम विनष्टो, मृता मे भार्या, किं मे जीवितेनेत्येवं दीनभावोऽनीशा
तया शोचति संतप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमानः, स एवं
प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजवं जवीभावमापन्नः कदाचिदनेकजन्मसु शुद्धधर्मसंचित-
निमित्ततः केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागशमद-
मादिसंपन्नः समाहितात्मा सञ्जुष्टं सेवितमनेकैर्योगमार्गैः कर्मिभिश्च, यदा यस्मिन्काले
पश्यति ध्यायमानोऽन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद्विलक्षणमीशमसंसारिणमशनायापिपासाशोक-
मोहजरामृत्वतीतमीशं सर्वस्य जगतोऽयमहमस्म्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतस्थो
नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मेति विभूतिं महिमानं च जगद्रूपमस्यैव मम
परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टुं तदा वीतशोको भवति सर्वस्माच्छोकसागराद्विप्रमुच्यते कृतकृत्यो
भवतीत्यर्थः ॥२॥

(२) अनवरतं जवीभावं लिकृष्टभावं, लघुभावं, जवीभावं

अन्योऽपि मन्त्र इममेवार्थमाह सविस्तरम् । यदा यस्मिन्काले पश्यः पश्यतीति

- ✓ विद्वान्साधक इत्यर्थः । पश्यते पूर्ववद्रुक्मवर्णं स्वयंज्योतिःस्वभावं रुक्मस्येव वा ज्योतिरस्या-
- ✓ विनाशि कर्तारं सर्वस्य जगत ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं ब्रह्म च तद्योनिश्चासौ ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो वाऽपरस्य योनिं स यदा चैवं पश्यति तदा स विद्वान्पश्यः पुण्यपापे बन्धनभूते
- ✓ कर्मणी समूले विधूय निरस्य दग्ध्वा निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं निरतिशयं
- ✓ साम्यं समतामद्वयलक्षणं, द्वैतविषयाणि साम्यान्यतोऽर्वाञ्छयेवातोऽद्वयलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति प्रतिपद्यते ॥३॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

ज्ञान एव ज्ञान वैराग्यादि. क्रिया यस्य प्रधानः

यह जो प्राणों का प्राण परमेश्वर है, वह सम्पूर्ण भूतों के रूप में विद्यमान है। इसे साक्षात्कार करके तत्त्वज्ञानी अतिवादि नहीं होता है, क्योंकि आत्मज्ञानी आत्मा से भिन्न वस्तु को देखता ही नहीं। यह आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला और आत्मा में ही रति वाला, आत्मा में ही रमण करने वाला, क्रियाशील पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठतम माना गया है ॥४॥

किंच योऽयं प्राणस्य प्राणः पर ईश्वरो ह्येष प्रकृतः सर्वैर्भूतैर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तैः। इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। सर्वभूतस्थः सर्वात्मा सन्नित्यर्थः। विभाति विविधं दीप्यते। एवं सर्वभूतस्थं यः साक्षादात्मभावेनायमहमस्मीति विजानन्विद्वान्वाक्यार्थज्ञानमात्रेण स भवते भवति न भवतीत्येतत्किमतिवाद्यतीत्यु सर्वानन्यान्वदितुं शीलमस्येत्यतिवादी। यस्त्वेवं साक्षादात्मानं प्राणस्य प्राणं विद्वानतिवादी स न भवतीत्यर्थः। सर्वं यदात्मैव नान्यदस्तीति दृष्टं तदा किं ह्यसावतीत्य वदेत्। यस्य त्वपरमन्यददृष्टमस्ति स तदतीत्य वदति। अयं तु विद्वानात्मनोऽन्यन्न पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति। अतो नातिवदति। किंचाऽऽत्मक्रीड आत्मन्येव च क्रीडा क्रीडनं यस्य नान्यत्र पुत्रदारादिषु स आत्मक्रीडः। तथाऽऽत्मारतिरात्मन्येव च रती रमणं प्रीतिर्यस्य स आत्मरतिः। क्रीडा बाह्यसाधनसापेक्षा। रतिस्तु साधननिरपेक्षा बाह्यविषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः। तथा क्रियावाञ्छानध्यानवैराग्यादिक्रिया यस्य सोऽयं क्रियावान्। समासपाठे आत्मरतिरेव क्रियाऽस्य विद्यत इति बहुव्रीहिमतुर्बर्थयोरन्यतरोऽतिरिच्यते। केचित्त्वग्निहोत्रादिकर्मब्रह्मविद्ययोः समुच्चयार्थमिच्छन्ति। तच्चैष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इत्यनेन मुख्यार्थवचनेन विरुध्यते। न हि बाह्यक्रियावानात्मरतिश्च भवितुं शक्तः कश्चिद्बाह्यक्रियाविनिवृत्तो ह्यात्मक्रीडो भवति बाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात्। न हि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्र स्थितिः संभवति। तस्मादसत्प्रलपितमेवैतदनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनम्। "अन्या वाचो विमुञ्चथ" "संन्यासयोगात्" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। तस्मादयमेवेह क्रियावान्यो ज्ञानध्यानादिक्रियावान्सोऽभिन्नार्थमर्यादः संन्यासी य एवंलक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्ब्रह्मनिष्ठः स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः प्रधानः ॥४॥

शस्त्र मर्यादा का उल्लंघन न करने।

अहं ब्रह्मास्मि परमार्थ सत्य आत्मनः वेदान्त आर्षणः । आत्मबोध के साधन
उससे एकता, अविच्छेदानन्द आत्मा है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

सत्य की महिमा । तनु-विस्तार न लोपः ततः ।
सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परम निधानम् ॥६॥

① P. 33 First line

यह आत्मा सदा मिथ्या भाषण के त्यागरूप सत्य, मन और इन्द्रियों की एकाग्रतारूपी तप, यथार्थ आत्मदर्शन तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करने योग्य है। जिस आत्मा को दोष रहित यत्नशील संन्यासी देखते हैं, वह प्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्मा शरीर के भीतर (हृदयाकाश में) रहता है ॥५॥

सत्यवादी ही विजय को प्राप्त करता है मिथ्यावादी नहीं, सत्य भाषण से देवयान मार्ग विस्तीर्ण होता है, जिस मार्ग के द्वारा पूर्णकाम ऋषिलोग उस पद को प्राप्त करते हैं, जहाँ वह सत्य का उत्कृष्ट निधान विद्यमान है ॥६॥

अधुना सत्यादीनि भिक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते निवृत्ति-
प्रधानानि । सत्येनानृतत्यागेन मृषावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः । किंच तपसा हीन्द्रियमन-

एकाग्रतया "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" (महा० शा० २५०/४) इति स्मरणात् । तद्ध्यनुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात्परमं साधनं तपो नेतरच्चान्द्रायणादि ।

एष आत्मा लभ्य इत्यनुषङ्गः सर्वत्र । सम्यग्ज्ञानेन यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण मैथुनासमा-
चारेण । नित्यं सर्वदा नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्य-
शब्दोऽन्तर्दीपिकान्यायेनानुषक्तव्यः । वक्ष्यति च — "न येषु जिह्यमनृतं न माया च" (प्र० उ०

१/१६) इति । कोऽसावात्मा य एतैः साधनैर्लभ्य इत्युच्यते । अन्तःशरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य
पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धो यमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो
यतनशीलाः संन्यासिनः क्षीणदोषा क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः
संन्यासिभिर्लभ्यत इत्यर्थः । न कादाचित्कैः सत्यादिभिर्लभ्यते । सत्यादिसाधनस्तुत्यर्थोऽय-
मर्थवादः ॥५॥ निष्ठायां अर्ह्यदर्शने क्षिप्तो दीर्घात्

④

सत्यमेव सत्यवानेव जयति नानृतं, नानृतवादीत्यर्थः । न हि सत्यानृतयोः केवलयोः
पुरुषानाश्रितयोर्जयः पराजयो वा संभवति । प्रसिद्धं लोके सत्यवादिनाऽनृतवाद्यभिभूयते
न विपर्ययोऽतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्साधनत्वम् । किंच शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य
साधनातिशयत्वम् । कथम् । सत्येन यथाभूतवादव्यवस्थया पन्था देवयानाख्यो विततो
नेष्टाणावीजं वर्ति : - न हि इत्यादिना = तेषाणावीजं : तात्पर्यानुययति (सिद्धं)

परमपद का वर्णन

बृहच्च तद्विव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति। स्वयं प्रभम्
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्वहैव निहितं ^{बुद्धिरूपगुहा} गुहायाम् ॥७॥

चित्तशुद्धि ही आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन

अपूर्वता

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

अरूपत्वात्

अनभिधेयत्वात्

not by body decoration or other sense organs

वह प्रकृत ब्रह्म महान् दिव्य और अचिन्त्य रूप है, वह आकाशादि वस्तुओं से भी सूक्ष्मतर भासता है और वह अविवेकियों के लिये दूर से भी दूर तथा विवेकियों के लिये अत्यन्त समीप इसी देह में विद्यमान है। वह चेतन प्राणियों में इस देह के भीतर उनके बुद्धिरूप गुफा में छिपा हुआ विद्वानों को दिखाई देता है ॥७॥

(यह आत्मा नीरूप होने के कारण) नेत्र से नहीं देखा जाता, (अवाच्य होने के कारण) न वाणी से और न अन्य इन्द्रियों से, न तप या वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म से ही गृहीत होता

विस्तीर्णः सातत्येन प्रवृत्तः। येन पथा ह्याक्रमन्ति क्रमन्ते ऋषयो दर्शनवन्तः ^{परतत्त्वम्} कुहकमाया-
शाठ्याहंकारदम्भानृतवर्जिता, ह्यासकामा विगततृष्णाः सर्वतो यत्र यस्मिंस्तत्परमार्थतत्त्वं
सत्यस्योत्तमसाधनस्य संबन्धि साध्यं परमं प्रकृष्टं निधानं पुरुषार्थरूपेण निधीयत इति
निधानं वर्तते। तत्र च येन पथाऽऽक्रमन्ति स सत्येन वितत इति पूर्वेण संबन्धः ॥६॥

माया = अन्तर-पञ्चा गृहीता बहिर्रूपमा

किं तत्किं धर्मकं च तदित्युच्यते—बृहन्महच्च तत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यादिसाधनं
सर्वतो व्याप्तत्वात्। दिव्यं स्वयंप्रभमनिन्द्रियगोचरमत एव न चिन्तयितुं शक्यतेऽस्य
रूपमित्यचिन्त्यरूपम्। सूक्ष्मादाकाशादेरपि तत्सूक्ष्मतरं निरतिशयं हि सौक्ष्म्यमस्य
सर्वकारणत्वाद्भिभाति विविधमादित्यचन्द्राद्याकारेण भाति दीप्यते। किंच दूराद्वि-
प्रकृष्टदेशात्सुदूरे विप्रकृष्टतरे देशे वर्ततेऽविदुषामत्यन्तागम्यत्वात्तद्ब्रह्म। इह देहेऽन्तिके
समीपे च विदुषामात्मत्वात् सर्वान्तरत्वाच्चाऽऽकाशस्याप्यन्तरश्रुतेः। इह पश्यत्सु
चेतनावत्स्वित्येतन्निहितं स्थितं दर्शनादिक्रियावत्त्वेन योगिभिर्लक्ष्यमाणम्। क्व? गुहायां
बुद्धिलक्षणायाम्। तत्र हि निगूढं लक्ष्यते विद्वद्भिः। तथाऽप्यविद्यया संवृतं सन्न लक्ष्यते
विद्वद्भिः ॥७॥ तत्र स्थिते वा विद्वद्भिः

पुनरप्यसाधारणं तदुपलब्धिसाधनमुच्यते। यस्मान्न चक्षुषा गृह्यते केनचिद-
प्यरूपत्वात्त्रापि गृह्यते वाचाऽनभिधेयत्वात् चान्यैर्देवैरितरेन्द्रियैः। तपसः सर्वप्राप्तिसा-
धनत्वेऽपि न तपसा गृह्यते। तथा वैदिकेनाग्निहोत्रादिकर्मणा प्रसिद्धमहत्त्वेनापि न गृह्यते।

तत्र स्थिते वा

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

क्षीरमिव स्नेहेन, काष्ठमिवाग्निना

है। किन्तु जब बुद्धि की स्वच्छता से पुरुष विशुद्ध अन्तःकरण वाला होता है तभी वह ध्यान करता हुआ उस निरवयव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है ॥८॥

यह सूक्ष्म आत्मा (इस शरीर के भीतर ही) चित्त से जानने योग्य है, जिसमें प्राणापानादि भेद से पाँच प्रकार का प्राण प्रविष्ट है। इन्द्रियों के सहित प्राण से प्रजावर्ग के सम्पूर्ण चित्त व्याप्त हैं। (क्योंकि लोक में प्रजा के सभी अन्तःकरण चेतनयुक्त प्रसिद्ध हैं) जिस चित्त के शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा अपने विशेष रूप से प्रकाशित होने लग जाता है ॥९॥

किं पुनस्तस्य ग्रहणे साधनमित्याह—ज्ञानप्रसादेनाऽऽत्मावबोधनसमर्थमपि स्वभावेन
✓ सर्वप्राणिनां ज्ञानं बाह्यविषयरागादिदोषकलुषितमप्रसन्नमशुद्धं सन्नावबोधयति नित्यं
✓ सन्निहितमप्यात्मतत्त्वं मलावनद्धमिवाऽऽदर्शम्। विलुलितमिव सलिलम्। तद्यदेन्द्रिय-
✓ विषयसंसर्गजनितरागादिमलकालुष्यापनयनादादर्शसलिलादिवत्प्रसादितं स्वच्छं शान्तम-
वतिष्ठते, तदा ज्ञानस्य प्रसादः स्यात्। तेन ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वो विशुद्धान्तःकरणो
योग्यो ब्रह्म द्रष्टुं यस्मात्ततस्तस्मात्तु तमात्मानं पश्यते पश्यत्युपलभते निष्कलं सर्वावयव-
✓ भेदवर्जितं ध्यायमानः सत्यादिसाधनवानुपसंहृतकरण एकाग्रेण मनसा ध्यायमान-
श्चिन्तयन् ॥८॥

यमात्मानमेवं पश्यत्येषोऽणुः सूक्ष्मश्चेतसा विशुद्धज्ञानेन केवलेन वेदितव्यः।
क्वासौ? यस्मिंश्शरीरे प्राणो वायुः पञ्चधा प्राणापानादिभेदेन संविवेश सम्यक्प्रविष्टस्त-
स्मिन्नेव शरीरे हृदये चेतसा ज्ञेय इत्यर्थः। कीदृशेन चेतसा वेदितव्य इत्याह—प्राणैः
सहेन्द्रियैश्चित्तं सर्वमन्तःकरणं प्रजानामोतं व्याप्तं येन, क्षीरमिव स्नेहेन, काष्ठमिवाग्निना।
सर्वं हि प्रजानामन्तःकरणं चेतनावत्प्रसिद्धं लोके। यस्मिंश्च चित्ते क्लेशादिमल-
वियुक्ते शुद्धे विभवत्येष उक्त आत्मा विशेषेण स्वेनाऽऽत्मनाविभवत्यात्मानं प्रकाशय-
तीत्यर्थः ॥९॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥१०॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥१॥

वह विशुद्ध अन्तःकरण वाला आत्मज्ञानी अपने या दूसरे के लिये मन से जिस लोक की भावना करता है और जिन-जिन भोगों को चाहता है, वह उस-उस पित्रादि लोक को ही और उन्हीं भोगों को प्राप्त करता है। अतः ऐश्वर्यकाम पुरुष आत्मज्ञानी की पूजा करे॥१०॥

॥ इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

य एवमुक्तलक्षणं सर्वात्मानमात्मत्वेन प्रतिपन्नस्तस्य सर्वात्मत्वादेव सर्वावाप्तिलक्षणं फलमाह। यं यं लोकं पित्रादिलक्षणं मनसा संविभाति संकल्पयति मह्यमन्यस्मै वा भवेदिति विशुद्धसत्त्वः क्षीणक्लेश आत्मविन्निर्मलान्तःकरणः कामयते यांश्च कामान्प्रार्थयते भोगांस्तं तं लोकं जयते प्राप्नोति तांश्च कामान्संकल्पितान्भोगान्। तस्माद्विदुषः सत्यसंकल्पत्वादात्मज्ञमात्मज्ञानेन विशुद्धान्तःकरणं ह्यर्चयेत्पूजयेत्पाद-
प्रक्षालनशुश्रूषानमस्कारादिभिर्भूतिकामो विभूतिमिच्छुः॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥१॥

★ आगम शास्त्रस्य अनित्यत्वात् शुकभावः
चिन्त - (चिन्त - शान्तः चिन्तयानः)

ब्रह्मज्ञानी की पूजा का फल अथ तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ^{शुद्ध}
स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम ^{सर्वकामानां परमं पदं आश्रयः} यत्र विश्वं निहितं, भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते, शुक्रमेतदतिवर्तन्ति ^{अतः तं पूजयेत्} धीराः॥१॥
कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥२॥

वह आत्मज्ञानी उस परब्रह्म को जानता है जो सम्पूर्ण आधिदैविकादि जगत् का आश्रय है और शुद्ध रूप से प्रकाशित हो रहा है। ऐसे आत्मदर्शी पुरुष की जो निष्काम भाव से उपासना करते हैं, वे धीर पुरुष शरीर के कारण प्रसिद्ध इस शुक्र का अतिक्रमण कर जाते हैं। अर्थात् उन्हें फिर शरीर धारण करने के लिये योनि में जाना नहीं पड़ता, वे मुक्त हो जाते हैं॥१॥

जो पुरुष (दृष्टादृष्ट) विषयों के गुणों का चिन्तन करता हुआ उनकी इच्छा करता है वह उन कामनाओं के कारण उनकी प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ जन्म लेता है। किन्तु (परमार्थतत्त्व के विज्ञान से) पूर्णकाम, कृतकृत्य पुरुष की सभी कामनाएँ इस लोक में ही लीन हो जाती हैं॥२॥

ततः पूजार्ह एवासौ यस्मात्स वेद जानातीत्येतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म परममुत्कृष्टं
धाम सर्वकामानामाश्रयमास्पदं यत्र यस्मिन्ब्रह्मणि धाम्नि विश्वं समस्तं जगन्निहितमर्पितं
यच्च स्वेन ज्योतिषा भाति शुभ्रं शुद्धम्। तमप्येवमात्मज्ञं पुरुषं ये ह्यकामा विभूतितृष्णा-
वर्जिता मुमुक्षवः सन्त उपासते परमिव सेवन्ते, ते शुक्रं नृबीजं यदेतत्प्रसिद्धं शरीरोपादा-
नकारणमतिवर्तन्त्यतिगच्छन्ति धीरा धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति "न पुनः क्वचिद्गतिं
करोति" इति श्रुतेः। अतस्तं पूजयेदित्यभिप्रायः॥१॥ ^{- जो संजो करे।}
मुमुक्षोः कामत्याग एव प्रधानं साधनमित्येतद्वर्णयति। कामान्यो दृष्टादृष्टेष्टविषया-
न्कामयते मन्यमानस्तद्गुणांश्चिन्तयानः प्रार्थयते, स तैः कामभिः कामैर्धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतु-
भिर्विषयेच्छारूपैः सह जायते तत्र तत्र। यत्र यत्र विषयप्राप्तिनिमित्तं कामाः कर्मसु पुरुषं
नियोजयन्ति, तत्र तत्र तेषु तेषु विषयेषु तैरेव कामैर्वेष्टितो जायते। यस्तु परमार्थतत्त्व-
विज्ञानात्पर्याप्तकाम आत्मकामत्वेन परि समन्तत आप्ताः कामा यस्य तस्य पर्याप्तकामस्य
कृतात्मनोऽविद्यालक्षणादपररूपादपनीय स्वेन परेण रूपेण कृत आत्मा विद्यया यस्य तस्य
कृतात्मनस्त्विहैव तिष्ठत्येव शरीरे सर्वे धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतवः प्रविलीयन्ति विलयमुपयान्ति
नश्यन्तीत्यर्थः। कामास्तज्जन्महेतुविनाशान्न जायन्त इत्यभिप्रायः॥२॥

आत्मदर्शन का मुख्य साधन

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ ३ ॥

आत्मदर्शन के कुछ अन्य साधन

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात् ।

एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

प्रकृति परम पुरुषार्थ के साधनभूत यह आत्मा वेद-शास्त्र के पुष्कल प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न ग्रन्थधारण शक्तिरूप मेधा से तथा अधिक शास्त्र श्रवण से ही मिल सकता है, किन्तु यह विद्वान् जिस परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है, उससे ही यह आत्मा लभ्य है। यह आत्मा उसके समक्ष अपनी अविद्या से आच्छन्न अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है ॥३॥

यह आत्मा आत्मनिष्ठाजनित शक्ति से हीन पुरुष द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न पुत्रादि में आसक्तिरूप प्रमाद से ही लक्ष्य है। अथवा न संन्यास रहित तपस्या से ही यह प्राप्तव्य है। किन्तु जो विद्वान् इन उपायों से उस प्राप्ति के योग्य आत्मतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है निश्चय उसका यह आत्मा ब्रह्मधाम में सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो जाता है॥४॥

यद्येवं सर्वलाभात्परम आत्मलाभस्तल्लाभाय प्रवचनादय उपाया बाहुल्येन कर्तव्या इति प्राप्ते इदमुच्यते । योऽयमात्मा व्याख्यातो, यस्य लाभः परः पुरुषार्थो नासौ वेदशास्त्रा-
ध्ययनबाहुल्येन प्रवचनेन लभ्यः । तथा न मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या । न बहुना श्रुतेन, नापि
भूयसा श्रवणेनेत्यर्थः । केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते । यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान्वृणुते
प्राप्नुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लेभ्यो नान्येन साधनान्तरेण । नित्यलब्धस्वभावत्वात् ।
कीदृशोऽसौ विदुष आत्मलाभ इत्युच्यते । तस्यैष आत्माऽविद्यासंछन्नां स्वां परां तनुं
स्वात्मतत्त्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकाशयति प्रकाश इव घटादिविद्यायां सत्यामाविर्भवतीत्यर्थः ।
तस्मादयमत्यागेनाऽऽत्मलाभप्रार्थनैवाऽऽत्मलाभसाधनमित्यर्थः ॥ ३ ॥

आत्मप्रार्थनासहायभूतान्येतानि च साधनानि बलाप्रमादतपांसि लिङ्गयुक्तानि ✓
संन्याससहितानि । यस्मादयमात्मा बलहीनेन बलप्रहीणेनाऽऽत्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन न लभ्यो ✓
नापि लौकिकपुत्रपश्चादिविषयसङ्गनिमित्तप्रमादात् । तथा तपसो वाऽप्यलिङ्गाल्लिङ्गरहितात् । ✓
तपोऽत्र ज्ञानम् । लिङ्गं संन्यासः संन्यासरहिताज्ज्ञानान्न लभ्यत इत्यर्थः । एतैरुपायैर्बला- ✓
प्रमादसंन्यासज्ञानैर्यतते तत्परः सन्प्रयतते, यस्तु विद्वान्विवेक्यात्मवित्तस्य विदुष एष आत्मा ✓
विशते संप्रविशति ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

ॐ नान्येन साधनन्तरेणेति = साधनन्तरस्यान्यत्वं नान्यविषयव्यतिरिक्तत्वेन

* परमात्मऽस्मीत्यभेदानुसंधानं वरणम् ॥

॥ परमात्मसमिप्यवधानसुखानन्दमयः ॥
॥ गगनगतापीकृतानन्दोऽयं पञ्चानन्दः पञ्चकल्पैव श्रवणादि

एक जीव वाद = याचा वा अविद्या एक है। ०पवहार दृष्टि से मुक्त जीव ई ज्ञार में
लीन होता है। परमार्थ दृष्टि में ब्रह्म में लीन होता है।

अनेकजीववाद = अविद्या अनेक

३८ आत्मज्ञानी के लिये ^{मिताक्षराहिन्दुआख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता} ब्रह्म प्राप्त सुलभ है

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्ति ॥ ५ ॥
^{आत्मनिषद ज्ञेय वस्तु के ज्ञान से मोक्ष को प्राप्ति}

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥
^{ब्रह्म भूतः}

इस आत्मतत्त्व को सम्यक् प्रकार से जानकर आत्मदर्शी ऋषिगण ज्ञान से तृप्त, कृतकृत्य,
वीतराग और उपरत इन्द्रिय हो जाते हैं। वे धीर पुरुष उस सर्वव्यापक ब्रह्म को सर्वत्र प्राप्त
कर (प्रारब्ध क्षय होने पर मृत्यु काल में समाहितचित्त होकर उपाधि से अपरिछिन्न) सर्वरूप ब्रह्म
में ही प्रवेश कर जाते हैं (जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में लीन हो जाता
है) ॥ ५ ॥

वेदान्त के विचार से उत्पन्न विज्ञान के द्वारा जिन्होंने ज्ञातव्य परमात्मा का भली प्रकार
से निश्चय कर लिया है, वे (ब्रह्मनिष्ठा स्वरूप) संन्यास योग से युक्त विशुद्धसत्त्व पुरुष ब्रह्मलोक
में शरीर त्यागते समय अत्यन्त उत्कृष्ट, अमरणधर्मा ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं और फिर
वे सभी ओर से मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

कथं ब्रह्म संविशत इत्युच्यते-संप्राप्य समवगम्यैनमात्मानमृषयो दर्शनवन्तस्तेनैव
ज्ञानेन तृप्ता न बाह्येन तृप्तिसाधनेन शरीरोपचयकारणेन। कृतात्मानः परमात्मस्वरूपेणैव
निष्पन्नात्मानः सन्तः। वीतरागा विगतरागादिदोषाः। प्रशान्ता उपरतेन्द्रियाः। त एवंभूताः सर्वगं
सर्वव्यापिनमाकाशवत्सर्वतः सर्वत्र प्राप्य नोपाधिपरिच्छिन्नेनैकदेशेन। किं तर्हि तद्ब्रह्मैवाद्य-
मात्मत्वेन प्रतिपद्य धीरा अत्यन्तविवेकिनो युक्तात्मानो नित्यसमाहितस्वभावाः सर्वमेव
समस्तं शरीरपातकालेऽप्याविशन्ति भिन्ने घटे घटाकाशवदविद्याकृतोपाधिपरिच्छेदं जहति।
एवं ब्रह्मविदो ब्रह्मधाम प्रविशन्ति ॥ ५ ॥

किंच वेदान्तजनितविज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः परमात्मा विज्ञेयः सोऽर्थः
सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः। ते च संन्यासयोगात्सर्वकर्मपरित्याग-
लक्षणयोगात्केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगाद्यतयो यतनशीलाः शुद्धसत्त्वाः शुद्धं सत्त्वं येषां
संन्यासयोगात्ते शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु। संसारिणां ये मरणकालास्तेऽपरान्तास्तानपेक्ष्य
मुमुक्षूणां संसारावसाने देहपरित्यागकालः परान्तकालस्तस्मिन्परान्तकाले साधकानां
बहुत्वादब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकवददृश्यते प्राप्यते वा। अतो बहुवचनं

आकाश का चैतन्य विवर्त उपादान कारण है।
 " " परिणामी उपादान कारण व्याप्त है।

स्व स्व कारणं

विदेह मोह का स्व रूप

मुण्डकोपनिषत् मुण्डक ३ खण्ड २

३६

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा, देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। इन्द्रियाणि
 कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति॥७॥

(देह के आरम्भक प्राणादि) पन्द्रह कलायें अपने-अपने कारण में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों के अधिष्ठता सभी देवगण अपने प्रतिदेवता आदित्यादि में लीन हो जाते हैं। उसके संचिदादि कर्म और विज्ञानमय आत्मा ये सभी अविनाशी परमात्म देव में एकता को प्राप्त कर लेते हैं। (मानो घटस्थ जलगत आदित्य प्रतिबिम्ब अम्बरस्थ सूर्य बिम्ब को प्राप्त हो गये हों)॥७॥

ब्रह्मलोकेष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः। परामृताः परममृतममरणधर्मकं ब्रह्माऽऽत्मभूतं येषां ते परामृता जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परामृताः सन्तः परिमुच्यन्ति परि समन्तात्प्रदीप-
 निर्वाणवदघटाकाशवच्च निर्वृत्तिमुपयान्ति। परिमुच्यन्ति परि समन्तान्मुच्यन्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते।

"शकुनीनामिवाऽऽकाशे जले वारिचरस्य च।

पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः"॥ (महा० शा० २/३९/२४)

"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णावः" इति श्रुतिस्मृतिभ्यो देशपरिच्छिन्ना हि गतिः संसारविषयैव। परिच्छिन्नसाधनसाध्यत्वात्। ब्रह्म तु समस्तत्वान्न देशपरिच्छेदेन गन्तव्यम्। यदि हि देशपरिच्छिन्नं ब्रह्म स्यान्मूर्तद्रव्यवदाद्यन्तवदन्याश्रितं सावयवमनित्यं कृतकं च स्यात्। न त्वेवंविधं ब्रह्म भवितुमर्हति। अतस्तत्प्राप्तिश्च नैव देशपरिच्छिन्ना भवितुं युक्ता। अपि चाविद्यादिसंसारबन्धापनयनमेव मोक्षमिच्छन्ति ब्रह्मविदो, न तु कार्यभूतम्॥६॥

किंच मोक्षकाले या देहारम्भिकाः कलाः प्राणाद्यास्ताः स्वां स्वां प्रतिष्ठां गताः स्व स्व कारणं गता भवन्तीत्यर्थः। प्रतिष्ठा इति द्वितीयाबहुवचनम्। पञ्चदश पञ्चदशसंख्याका या अन्त्यप्रश्नपरिपठिताः प्रसिद्धा देवाश्च देहाश्रयाश्चक्षुरादिकरणस्थाः सर्वे प्रति देवतास्वादित्यादिषु गता भवन्तीत्यर्थः। यानि च मुमुक्षुणा कृतानि कर्माण्यप्रवृत्तफलानि संहिता प्रवृत्तफलानामुपभोगेनैव क्षीयमाणत्वाद्विज्ञानमयश्चाऽऽत्माऽविद्याकृतबुद्ध्याद्युपाधिमात्मत्वेन मत्वा जलादिषु सूर्यादिप्रतिबिम्बवदिह प्रविष्टो देहभेदेषु कर्मणां तत्फलार्थत्वात्सह प्रारब्ध कर्म का अंग स ही नाश होता है।

४० समुद्र में नदी मिलने के मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुत
अमान जीव को ब्रह्म की प्राप्ति

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं, तरति पाप्मानं, गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

जैसे गंगा आदि नदियाँ निरन्तर बहती हुई समुद्र में पहुँचने पर अपने नाम रूप को त्याग कर अविशेष भाव को प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानी नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है ॥८॥

लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उस विद्वान् के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता है। वह इष्ट वियोगजनित संताप को जीवित अवस्था में ही पारकर जाता है। धर्माधर्म रूप पाप को भी पारकर लेता है, एवं आत्मा और अनात्मा के अध्यास रूपी हृदय ग्रंथियों से छूटकर अमर हो जाता है ॥९॥

तेनैव विज्ञानमयेनाऽऽत्मना। अतो विज्ञानमयो विज्ञानप्रायः। ते एते कर्माणि विज्ञान-
मयश्चाऽऽत्मोपाध्यपनये सति परेऽव्ययेऽनन्तेऽक्षये ब्रह्मण्याकाशकल्पेऽजेऽजरेऽमृतेऽभ-
येऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्येऽद्वये शिवे शान्ते सर्वे एकी भवन्त्यविशेषतां गच्छन्त्येकत्वमा-
पद्यन्ते जलाद्याधारापनय इव सूर्यादिप्रतिबिम्बाः सूर्ये घटाद्यपनय इवाऽऽकाशे
घटाद्याकाशाः ॥७॥

किंच यथा नद्यो गङ्गाद्याः स्यन्दमाना गच्छन्त्यः समुद्रे प्राप्यास्तमदर्शनम-
विशेषात्मभावं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाम च रूपं नामरूपे विहाय हित्वा तथाऽविद्या-
कृतनामरूपाद्विमुक्तः सन्विद्वान्परादक्षरात्पूर्वोक्तात्परं दिव्यं पुरुषं यथोक्तलक्षणमुपैत्युप-
गच्छति ॥८॥

ननु श्रेयस्यनेके विघ्नाः प्रसिद्धा, अतः क्लेशानामन्यतमेनान्येन वा देवादिना च
विघ्नितो ब्रह्मविदप्यन्यां गतिं मृतो गच्छति न ब्रह्मैव। न। विद्ययैव सर्वप्रतिबन्धस्यापनीतत्वात्।
अविद्याप्रतिबन्धमात्रो हि मोक्षो, नान्यः प्रतिबन्धः। नित्यत्वादात्मभूतत्वाच्च। तस्मात्स यः
कश्चिद्ब्रह्मैव लोके तत्परमं ब्रह्म वेद साक्षादहमेवास्मीति स नान्यां गतिं गच्छति। देवैरपि तस्य
ब्रह्मप्राप्तिं प्रति विघ्नो न शक्यते कर्तुम्। आत्मा ह्येषां स भवति। तस्माद्ब्रह्म विद्वान्ब्रह्मैव

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्। क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः श्रोत्रिय छन्दोऽधीते
अग्निं स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां

वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥
उपसंहार

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।

यही बात आगे की ऋचा में कही गई है, जो क्रियावान् श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ स्वयं श्रद्धा से युक्त हो एकर्षि नामक अग्नि में हवन करने वाले हैं तथा जिन्होंने (अथर्ववेदियों का प्रसिद्ध शिर पर अग्नि धारण करना रूप) शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया है, उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये दूसरे से नहीं ॥१०॥

उस इस अक्षर पुरुष सत्य को अंगिरा नामक ऋषि ने पूर्वकाल में (विधिपूर्वक अपने समीप आये हुए शौनक जी से) कहा था। जिसने शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान नहीं किया

भवति। किंच नास्य विदुषोऽब्रह्मवित्कुले भवति। किंच तरति शोकमनेकेष्टवैकल्य-
निमित्तं मानसं संतापं जीवन्नेवातिक्रान्तो भवति। तरति पाप्मानं धर्माधर्माख्यं गुहाग्र-
न्थिभ्यो हृदयाविद्याग्रन्थिभ्यो विमुक्तः सन्नमृतो भवतीत्युक्तमेव भिद्यते हृदयग्रन्थि-
रित्यादि ॥१॥ ॐ कृते शिष्टपादिवंशे (जादववंशे) पुत्रादिवंशे (विन्दुवंशे)

अथेदानीं ब्रह्मविद्यासंप्रदानविध्युपप्रदर्शनेनोपसंहारः क्रियते। तदेतद्विद्यासंप्रदान-
विधानमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तमभिप्रकाशितम्। क्रियावन्तो यथोक्तकर्मानुष्ठानयुक्ताः। श्रोत्रिया
ब्रह्मनिष्ठा अपरस्मिन्ब्रह्मण्यभियुक्ताः परब्रह्म बुभुत्सवः स्वयमेकर्षिं नामानमग्निं जुह्वते
जुह्वति श्रद्धयन्तः श्रद्धधानाः सन्तो ये, तेषामेव संस्कृतात्मनां पात्रभूतानामेतां ब्रह्मविद्यां
वदेत ब्रूयाच्छिरोव्रतं शिरस्यग्निधारणलक्षणम्। यथाऽऽथर्वणानां वेदव्रतं प्रसिद्धम्। यैस्तु
यैश्च तच्चीर्णं विधिवद्यथाविधानं तेषामेव च ॥१०॥

तदेतदक्षरं पुरुषं सत्यमृषिरङ्गिरा नाम पुरा पूर्वं शौनकाय विधिवदुपसन्नाय
पृष्ठवते उवाच। तद्वदन्योऽपि तथैव श्रेयोर्थिने मुमुक्षवे मोक्षार्थं विधिवदुपसन्नाय ब्रूयादित्यर्थः।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

॥ इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः समाप्तः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः ३ ॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता ॥

वह इस विद्या का अध्ययन नहीं कर सकता है। परमर्षियों को नमस्कार है, परमर्षियों को नमस्कार है, द्विरुक्ति आदरार्थ है ॥११॥

इस प्रकार अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषत् की श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि जी कृत हिन्दीमिताक्षराव्याख्या समाप्त हुई।

॥श्री शङ्करः प्रीयताम् ॥

नैतद्ग्रन्थरूपमचीर्णव्रतोऽचरितव्रतोऽप्यधीते न पठति। चीर्णव्रतस्य हि विद्या फलाय संस्कृता भवतीति। समाप्ता ब्रह्मविद्या सा येभ्यो ब्रह्मादिभ्यः पारम्पर्यक्रमेण संप्राप्ता तेभ्यो नमः परमऋषिभ्यः। परमं ब्रह्म साक्षाद्दृष्टवन्तो ये ब्रह्मादयोऽवगतवन्तश्च ते परमर्षयस्तेभ्यो भूयोऽपि नमः। द्विर्वचनमत्यादरार्थं मुण्डकसमाप्त्यर्थं च ॥११॥

इति तृतीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इति श्रीमद्भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य

श्रीमच्छंकरभगवतः कृतावाथर्वणमुण्डकोपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥

॥ २-आह्निकम् ॥

जगद्गुरु आदिशङ्कराचार्य



सृष्टि के आरम्भ से भारतवर्ष में अवतारों की एक बहुत बड़ी शृंखला रही है। निर्गुण निराकार परमात्मा सन्तों के परित्राण, दुष्टों के उद्धार तथा धर्म संस्थापना के लिए समय-समय पर इस धरा पर अवतरित होते रहते हैं। भगवान् विष्णु के दशावतार तथा चौबीस अवतार इसी क्रम में आते हैं। इन अवतार क्रमों में जगद्गुरु आदि श्री शंकराचार्य भगवान् सदाशिव के अवतार माने जाते हैं।

जगद्गुरु आद्य श्री शंकराचार्य का प्रादुर्भाव वैशाख शु. ५ वि.सं. ८४५ (सन् ७८८ ई.) में केरल प्रदेश (दक्षिण भारत) के कालडी ग्राम में पिता श्री शिवगुरु एवं माता श्री आर्याम्बा के यहाँ हुआ। बाल्यकाल से ही आपकी अलौकिक प्रतिभा का परिचय सब लोगों को होने लगा। पाँचवें वर्ष में विधिवत् उपनयन संस्कार के अनन्तर आप गुरु के पास अध्ययन करने गये। आठ वर्ष की स्वल्पायु में आपने संन्यास ग्रहण हेतु गृह त्याग किया, जो विश्व के इतिहास में एक अलौकिक घटना है। योगदर्शन के रचयिता पतंजलि महर्षि के अवतार श्री गोविन्दाचार्य भगवत्पाद को गुरु वरण कर उनको खोजते हुए नर्मदा तीर स्थित एक गुफा में श्री शंकराचार्य ने उनके दर्शन प्राप्त किए और कुछ वर्षों तक उनकी सेवा में रहकर साधना एवं स्वाध्याय सम्पन्न किया। आचार्य शंकर की काशी यात्रा में भगवान् शंकर ने चाण्डाल रूप धारण कर आप की परीक्षा ली और सब प्रकार से योग्य सिद्धकर विश्वनाथ रूप में आपको दर्शन दिये।

उत्तरभारत में श्री बद्रीनाथ स्थित व्यासगुफा में आचार्य शंकर ने चार वर्ष तक निवास किया और उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्रादि ग्रन्थों पर अपना प्रामाणिक भाष्य लिखा। उस समय आपकी आयु सोलह वर्ष हो चुकी थी जो विद्याता एवं महर्षि अगस्त्यादि प्रदत्त आयु की सीमा थी। किन्तु महर्षि वेदव्यास जी के उत्तरकाशी में दर्शन आप को हुए और आपके द्वारा लिखे भाष्यों से प्रसन्न होकर १६ वर्ष और आयु का आशीर्वाद भगवान् वेदव्यास जी ने आपको दिया।

आचार्य शंकर ने अद्वैत मत के प्रचार हेतु अपनी दिग्विजयी भारत यात्रा की। धर्म प्रचार के उद्देश्य से एवं भारत की अखण्डता बनाये रखने हेतु चार दिशाओं में चार मठों की आपने स्थापना की। केदारनाथ की अपनी अन्तिम यात्रा में वहीं अन्तर्धान हो गए। अतः केवल ३२ वर्ष की आयु में ही आचार्य शंकर ने वैदिक सनातन धर्म की परम्पराओं में अनेक क्रांतिकारी कदम उठाकर भारत भूमि में धर्म की पताका को पुनः ऊँचा किया। आप द्वारा रचे दो सौ से भी अधिक ग्रन्थों की देन से मानवमात्र आदि शंकराचार्य जी के ऋणी हैं।

देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव वि. सं. २०५५-५६ में श्रीदशमकैलासपीठाधीश्वर जी महाराज ने प्रतिदिन एक घण्टा शंकर साहित्य पारायण का जो नियम लिया है, यह आचार्य शंकर के प्रति निष्ठा का अनुकरणीय आदर्श है। हम सब भी इसका अनुसरण कर आचार्य शंकर द्वारा रचे ग्रन्थों का पारायण कर अपने जीवन को कृतकृत्य बनायें। यही आचार्य शंकर के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

देवानुग्रहत्रिदशकमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम्



श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

आप का जन्म २९ नवम्बर, सन् १९२१ को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। २० वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनार्थ तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।



२१ जुलाई सन् १९६९ को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपके कार्यकलापों से तब विद्यमान कैलास आश्रम के दो पूर्वार्च्य म.मं. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं म.मं. स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज अत्यन्त संतुष्ट हुये। आपने ग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आप भारत के आध्यात्मिक, एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य है। साधु समाज की दृष्टि में आप की क्षमता, शक्ति, लगन, तत्परता, विद्वत्ता तपश्चर्या सहिष्णुता एवं उदारता सभी गगन-चुम्बी और अलौकिक है। आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वाङ्गीन विकास और जन जीवन को दिव्यालोक प्रदान करने में आपने युगपुरुष की भूमिका निभाई है।

१० दिसम्बर १९९६ को आपके पावन जीवन के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर आपका अमृत महोत्सव सन्तों एवं भक्तों ने बड़ी धूमधाम से मनाया और आपके सुदीर्घ स्वस्थ जीवन की आशुतोष भगवान् शंकर से प्रार्थना की। आषाढ शु. ७ वि. सं. २०५५ से सवा वर्ष पर्यन्त कैलासाश्रम में आपके पीठासीन हुए तीस वर्ष होने के उपलक्ष्य में “देवानुग्रह त्रिदशक” महोत्सव मनाया जा रहा है।

ईशा विष्वक्पोषनिषदः

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंगलितशाङ्करभाष्ययुताः

(मान्यतापत्र संस्करण)